वेदोऽखिलो धर्ममूलम्

वेद प्रकाश

श्रद्धांजली

त्वं न इन्द्रासि प्रमतिः पितेव । ऋग्वेद ७।२६।४

हे इन्द्र ! तुम हमें पिता के तुल्य सद्बुद्धि दो।

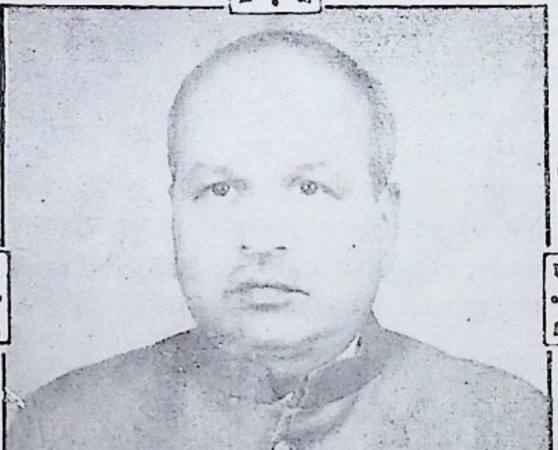

जन्म : २६-२-१९३२ स्मृतिशेष : ३०-१२-१९९१

अपने प्रेरणास्रोत, मार्गदर्शक पिता की
पुण्य-स्मृति को शत-शत नमन । —अजय कुमार

बोध-कथा

प्राणी को प्राण-दान

सन्त एकनाथ तीर्थयात्रा पर गए। तीर्थयात्रा के सिलसिले में वह प्रयागराज पहुँचे। त्रिवेणी में स्नान करने के बाद उन्होंने अपनी कांवर गंगा-जल से भर ली। उनकी इच्छा थी कि वह पवित्र गंगा-जल रामेश्वर में रामेश्वर की मूर्ति पर चढ़ायेंगे। लम्बी यात्रा की कठिनाइयां और बाधाएं पार करते हुए वह रामेश्वर के मन्दिर और वहां की बस्ती के पास पहुँचे। सन्त एकनाथ मुंह से भगवान् के नाम का स्तवन करते हुए अपनी यात्री मण्डली से आगे तेजी से बढ़ते जा रहे थे। उनके सब साथी कुछ पिछड़ गए थे। अचानक सन्त एकनाथ ने देखा कि प्यास से व्याकुल होकर एक गधा गरम रेत में बुरी तरह तड़फ रहा है।

प्राणीमात्र में भगवान् के दर्शन करने वाले सन्त एकनाथ का कोमल हृदय उस प्यासे गधे के चीत्कार से पिघल गया और एक क्षण का संकोच किए बिना गंगाजल से भरी कांवर लेकर उस गधे के पास पहुँचे और उन्होंने गंगा-जल का पवित्र जल उस तड़पते प्राणी को पिला दिया। गले और पेट तक पानी पहुँचते ही उस दुःखी प्राणी को जैसे नया जीवन मिल गया। उनके पीछे आते मण्डली के साथी यात्रियों ने यह घटना देख ली, वे सब जल-भुन गए। समीप पहुंचते ही एकनाथ जी से बोले, "भाई, तुम्हारी यात्रा व्यर्थ-अकारण गई। गधे का झूठा जल रामेश्वर भगवान् पर चढ़ाने के योग्य नहीं रह गया।

बड़े धीरज और नपे-तुले शब्दों में सन्त एकनाथ बोले—"भाइयो, यात्रा व्यर्थ नहीं गई, जिस यात्रा को तुम लोग फलहीन हो गई कहते हो, वास्तव में वह इसी कारण अधिक सार्थक हो गई। कण-कण में, चराचर में व्याप्त रामेश्वर भगवान् ने तो रास्ते में ही आकर हमारी सेवा स्वीकार कर ली। सन्त एकनाथ के इन ओजस्वी परन्तु सार्थक शब्दों से उनके साथियों ने सहमति प्रकट की।

प्रस्तुति—नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

वेदप्रकाश

संस्थापक : स्वर्गीय श्री गोविन्दराम हासानन्द

वर्ष ४४, अंक ६ वार्षिक मूल्य : बीस रुपये जनवरी १९९९

सम्पा॰ अजयकुमार आ॰ सम्पादक : स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

स्मृतियों के टापू से

स्वर्गीय श्री विजयकुमार जी से मेरा परिचय तभी से था जब वह अपनी शिक्षा पूरी करके अपने व्यवसाय में अपने माननीय पिता जी के सहयोगी बनकर काम करने लगे। उन्हीं दिनों ब्र॰ जगदीश विद्यार्थी भी उनकी दुकान पर आते जाते थे। यह सन् १९५२-१९५३ की बात है। मैं भी तब देहली में ही रहता था। हम तीनों का यह परिचय आत्मीयता का रूप धारण करता गया। हम तीनों ही लगभग समान आयु के हाने से एक दूसरे के साथ बहुत घुलमिल गये।

श्री विजयकुमार जी एक कुशल व्यवसायी थे। यह तो सभी जानते हैं परन्तु वह बहुत स्वाध्यायशील थे, यह कम लोगों को ही पता है। वह आर्यसमाज की पुरानी पीढ़ी के उन प्रकाशकों की परम्परा में से थे जिन्हें दिन रात वैदिक धर्म-प्रचार की ही सूझती थी। कहाँ कैसे आर्यसमाज का सन्देश पहुंचाया जाये और किन-किन विषयों पर हमारा साहित्य कैसा हो ? ये सब बातें हमारे पुराने आर्य प्रकाशकों के मस्तिष्क में घूमती रहती थीं। धर्मवीर महाशय राजपाल, और पं॰ वजीरचन्द शर्मा स्वयं लेखकों व विद्वानों को नये-नये विषयों पर ग्रन्थ लेखन के लिए उत्तम व ठोस सुझाव दिया करते थे। श्री विजयकुमार जी के पिता जी में भी यही गुण था।

विजय जी ने वैदिक धर्मानुराग बपौती में प्राप्त किया। वह प्रकाशन में ही जन्मे और सारा जीवन साहित्य प्रकाशन की भेंट कर दिया। उनको आर्य साहित्य को उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत करने की कैसी लग्न थी। इसका एक उदाहरण देता हूं। कोई तीस वर्ष पूर्व गोविन्दराम हासानन्द ने श्री पं॰ भगवद्दत्त जी द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश का एक

सुन्दर संस्करण निकाला । पण्डित भगवद्दत्त इसके सम्पादक थे, इसी से पाठक अनुमान लगा सकते हैं कि यह एक उपयोगी व बढ़िया संस्करण था । इसमें बहुत अच्छी निर्देशिका (Indesc) भी दी गई। यह निर्देशिका श्री विजयकुमार जी ने तैयार की थी । श्री स्वामी जगदीश्वरानन्द जी को भी इस तथ्य का ज्ञान होगा ।

जब कभी श्री विजयकुमार जी के साथ सत्यार्थप्रकाश की कभी चर्चा किया करता था तो इस निर्देशिका के लिए उनके द्वारा किये गये परिश्रम पर उनको बधाई देना नहीं भूलता था । इसी प्रसंग में श्री विजय जी यह सुनाया करते थे कि इस संस्करण के लिए पं॰ भगवद्दत्त जी से बात हुई तो पण्डित जी ने कार्य आरम्भ कर दिया। विजय जी ने अपना बजट सोच लिया । पण्डित जी ने एक दिन कहा, "यह कार्य ऐसे नहीं, ऐसा होना चाहिए ।"

विजय जी ने कहा, "अच्छा ऐसे ही कीजिये ।" सारा बजट डगमगा गया परन्तु अपने धर्म भाव के कारण विजय जी ने पण्डित जी की बात स्वीकार करने में तनिक भी ननु न च न किया ।

वह आर्यसमाज के लोगों विशेष रूप से सभाओं द्वारा अपने साहित्य-सृजन व साहित्य प्रकाशन से किये गये खिलवाड़ की एक घटना सुनाया करते थे । श्री पण्ड़ित भगवद्दत्त जी ने परोपकारिणी सभा के सामने महर्षि का जीवन-चरित लिखने का प्रस्ताव रखा । सभा ने उनके द्वारा लिखा जीवन-चरित प्रकाशित करना स्वीकार कर लिया। पण्डित जी ने कहा कि मुझे एक टाईपिस्ट दे दो । इसके लिए छह सौ रुपये मासिक सभा व्यय न कर सकी । परिणाम यह हुआ कि पण्डित जी ने अपनी लेखनी ही न उठाई । इससे आर्यसमाज और सारा विश्व पं॰ भगवद्दत्त जैसे इतिहास मर्मज्ञ वैदिक विद्वान् और ऋषिभक्त की खोज व मन्थन चिन्तन से वञ्चित हो गया । न जाने इस सम्बन्ध में उनके मस्तिष्क में कितनी नई खोज व ज्ञान था । सब कुछ वह साथ ही ले गए ।

एक बार मथुरा के श्री प्रेम भिक्षु जी से 'दो बहिनों की बातें' प्रकाशन पर उनका विवाद हो गया । बात कोर्ट में चली गई । मैंने विजय जी से कहा, यह बात अशोभनीय है । इसे किसी आर्य महात्मा को बीच में डालकर निपटा लेना चाहिए । उन्होंने कहा, "जो आप कहेंगे या करेंगे हमें मान्य होगा । हम भी झगड़ा नहीं चाहते ।"

मैंने पूज्य महात्मा आनन्दभिक्षु जी महाराज का नाम सुझाया। विजय जी तो मान गए परन्तु दूसरे पक्ष ने महात्मा जी की एक न सुनी । इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ ।

पं॰ गंगाप्रसाद उपाध्याय जी की पुस्तक Marriage And

Married Life का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करके गोविन्दराम हासानन्द ने बड़ा उत्तम कार्य किया । इस अनुवाद का प्रकाशन श्री विजय जी की सूझ का ही परिणाम था ।

श्री अमर स्वामी का निधन हुआ । आर्यसमाज नया बांस ने उनकी स्मृति में एक विशेष कार्यक्रम रखा ।

श्री अमर स्वामी जी के जीवन, विद्वत्ता व शास्त्रार्थों पर एक व्याख्यान की व्यवस्था की गई । नया बांस समाज के लोग जानते थे कि मेरी शास्त्रार्थों में विशेष रुचि रही है । इसलिए मुझे इस कार्य के लिए अबोहर से बुलवाया गया ।

श्री विजय जी को इस बात का पता लगा तो आप प्रातः काल मेरे पहुंचते ही, सत्संग से पूर्व मुझे नया बांस मिलने आ गए । कहने लगे, "एक विशेष काम लेकर आया हूं ।"

मैंने पूछा क्या काम है ? आपने कहा, "लोहा गर्म है । अभी चोट मारो । लोग प्रस्ताव पारित करके चुप हो जायेंगे फिर कोई कुछ नहीं करेगा । आप यदि हमें अमर स्वामी के जीवन व शास्त्रार्थों पर विस्तार से कुछ लिख दें तो हम वेदप्रकाश का अमर स्वामी विशेषांक निकाल देंगे ।" मैंने कहा, "कितने पृष्ठ मुझे देंगे ?"

विजयी जी ने कहा, "सारा अंक आप ही की भेंट है । और किसी का लेख न होगा ।"

मैंने घर आते ही यह कार्य हाथ में लिया और सारा मैटर रजिस्टरी करके भेज दिया । तभी प्रादेशिक सभा ने स्वामी सत्यप्रकाश जी की अध्यक्षता में अमर स्वामी जी के लिए शोक सभा रखी । लोगों ने और लीडरों ने श्रद्धाञ्जलियों के ढेर लगाकर रिवाज पूरा कर दिया। स्वामी सत्यप्रकाश जी ने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि स्वामी जी का जीवन-चरित प्रकाशित करना चाहिए । एक नेता जी ने तत्काल कहा, "हम छापेंगे" । सब जानते हैं कि आज तक एक पृष्ठ नहीं छपा। किसके पास लिखने का समय है और कौन एक विद्वान् की जीवनी छपवाता है ? व्यक्ति पूजा का युग है । पूजा अपूज्यों की हो रही है।

वह बहुत अध्ययनशील थे । १९८३ की महर्षि की बलिदान शताब्दी पर स्वामी सत्यप्रकाश जी ने विशेष रूप से मुझे आर्यसमाज के अन्य मतों के उत्तर व प्रतिवाद में लिखे गये आर्य साहित्य पर बहुत विस्तार से लिखने की आज्ञा दी । महर्षि स्मृति ग्रन्थ में छपे लेखों में मेरा भी लेख था । विजय जी ने इसे पढ़कर भाव विभोर होकर मुझे एक लम्बा पत्र लिखा । आपने इस पर बधाई देते हुए मुझे लिखा कि इस ग्रन्थ में छपे लेखों में आपका लेख मेरी दृष्टि में सर्वोत्तम है ।

साथ ही एक सैद्धान्तिक विषय पर मुझे एक पुस्तक लिखने के लिए कहा । मैंने उस विषय पर कार्य आरम्भ भी कर दिया । परन्तु तब पंजाब में बहुत मारकाट के कारण मेरा मन बहुत दुखी हो जाता था । विजय जी के वे पत्र अब भी मेरे पास हैं । कभी यह कार्य भी कर दूंगा ।

महात्मा हंसराज का जीवन-चरित लिखा । वह छापने को उद्धत हुए । मैंने महात्मा जी के व्याख्यानों व लेखों के अनुवाद व सम्पादन की भी चर्चा की तो बोले, हम ग्रन्थावलि के रूप में इसे निकाल देंगे। एक दम इतनी बड़ी योजना हाथ में लेने का उनका साहस देखकर मैं दंग रह गया ।

स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावलि के लिए मुझ से चर्चा की तो मैंने कहा कि स्वामी जी के उर्दू के लेखों व पुस्तकों के पन्द्रह खण्ड तो बनते ही हैं । आपने अपनी सीमाओं के अनुसार मुझे दो खण्ड अनूदित व सम्पादित करने को कहा ।

उनका मुझ पर बहुत विश्वास था । एक योग्य सज्जन ने एक महत्त्वपूर्ण उर्दू पुस्तक का अनुवाद करके उन्हें छापने को दी । आपने कहा जिज्ञासु जी इसे देखकर इसके छापने के लिए कहेंगे तो मैं छाप दूंगा ।

ऐसे लग्नशील आर्य प्रकाशक को खोकर आर्यसमाज इस क्षेत्र में बहुत घाटे की घाटी मे गिरा है । हर्ष का विषय है कि उनका चिरञ्जीव प्रिय अजय अपनी कुल परम्परा को सोत्साह निभा रहा है ।

—प्रा० राजेन्द्र जिज्ञासु,
वेद सदन, अबोहर

दर्शनाध्ययन एवं ध्यान योग शिविर

वेद मन्दिर, इब्राहीम पुर, दिल्ली-३६ में स्वामी सत्यपति जी की अध्यक्षता में १४ फरवरी से १६ मार्च १९९६ तक लगेगा । जिसमें वैशेषिक दर्शन और योग दर्शन का अध्ययन कराया जायेगा।

स्थान सीमित है—३१ जनवरी तक अपना स्थान सुरक्षित करा लें । एक मास का भोजन व्यय (जिस में दुग्ध एवं प्रातःरास सम्मिलित हैं) एक सहस्र (१०००/-) रुपये हैं ।

निवेदक
स्वामी जगदीश्वरानन्द
आचार्य-दयानन्द संस्थान
दिल्ली-३६

दूरभाष
७२०२२४९

विशेषांक

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत

ओ३म्

भागवत्-कथा

प्रथम आह्निक—कथा का पात्र कौन है?

[१]

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत

ओ३म्

भगवत्-कथा

प्रथम आह्निक—कथा का पात्र कौन है?

[१]

ब्रह्म-जिज्ञासु

१. सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो बैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलाद-मुपसम्पन्नाः ॥ तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथा कामं प्रश्नान्पृच्छथ यदि विज्ञास्यामः सर्वं हि वो वक्ष्यामः इति । अथ कबंधी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ। भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥

—प्रश्नोपनिषत् १ । १ । ३

प्राचीनकाल में कोई छह सन्त पुरुष थे । इनका जीवन पवित्र था और यह ईश्वर के ही ध्यान में रत रहते थे। इन छओं के हृदय में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि किसी महान् ऋषि के पास जाकर अपनी शङ्काओं का निवारण करना चाहिए। इन सत्पुरुषों के नाम यह थे—(१) भरद्वाज वंश का सुकेश, (२) शिब वंश का सत्यकाम, (३) गर्ग वंश का सौर्यायणी, (४) अश्वल वंश का कौशल्य, (५) भृगु वंश का वैदर्भि और (६) कति वंश

का कबन्धी। ये छओं ब्रह्मपरायण और ब्रह्मनिष्ठ थे, अर्थात् ब्रह्म की खोज ही इनके जीवन का मुख्य उद्देश्य था। भगवत् कथा में ही इनको आनन्द आता था। भाग्यशाली है वह मनुष्य जिसके हृदय में ईश्वर के विषय में जानने की इच्छा रहती है; जिसको हरि कथा में रस आता है, क्योंकि हरि कथा से बढ़कर आत्मा को सन्तोष देने और जीवन को पवित्र करनेवाली कोई दूसरी चीज़ नहीं है।

उस समय की रीति यह थी कि जब कोई शिष्य गुरु के पास शङ्का-निवारण के लिए जाता था तो बड़ी श्रद्धा से हाथ में हवन के लिए समिधाएँ लिए नम्रता से उपस्थित होता था। गुरु के लिए सबसे बड़ी दक्षिणा यह थी कि उनके यज्ञ के लिए समिधाएँ अर्थात् हवन की लकड़ियाँ भेंट की जाएँ। इस भेंट का तात्पर्य केवल श्रद्धा-प्रदर्शन था, क्योंकि गुरुओं को वन में लकड़ियों की कमी न थी। वे अपने शिष्यों से कुछ धन नहीं चाहते थे। हाँ, श्रद्धा को अवश्य देखना चाहते थे, क्योंकि जिसको श्रद्धा नहीं वह तो उपदेश का पात्र नहीं है, जो जानना ही नहीं चाहता उसको बताने से क्या लाभ?

इसी नियम का पालन करते हुए ये छओं सन्त एक बहुत बड़े महात्मा के पास समिधा लेकर श्रद्धापूर्वक उपस्थित हुए। इन महात्मा का नाम पिप्पलाद था, क्योंकि यह पीपल की पिप्पलियाँ खाकर अपना जीवन निर्वाह करते थे। संसार के भोग्य पदार्थों में इनको रस नहीं मिलता था। इनका सादा और त्यागमय जीवन था। यह भोगविलास में लिप्त न थे। वस्तुतः जो मनुष्य भोग में लिप्त रहता है उसको भगवत् कथा में आनन्द

जिसको दुर्गन्ध प्रिय है वह गन्धी की दुकान में जाकर क्या करेगा? उसको तो गन्दी नालियों के पास रहना ही अच्छा लगेगा। कबन्धी महाराज पूछते हैं कि सृष्टि कहाँ से उत्पन्न होती है, इसका मूल क्या है? बुद्धिमान पुरुष वृक्ष की मूल को सींचता है, क्योंकि मूल को सींचने से डालियाँ, पत्ते, कलियाँ और फूल तो स्वयं ही सिंच जाते हैं।

[२]

अमृत की इच्छुका

मैत्रेयीति हो वाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन् वा अरेऽहमस्मात्। स्थानाद् अस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणि-इति। साहो वाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथ्वी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्याम् इति। नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात् अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन इति। सा हो वाच मैत्रेयी येन अहं न अमृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्। यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि इति। स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्व इति॥

—बृहदारण्यक-उपनिषद् २।४।१।४

याज्ञवल्क्य ऋषि के दो स्त्रियाँ थीं। एक मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी। इनमें कात्यायनी की बुद्धि बहुत साधारण थी। वह संसार की सामान्य स्त्रियों के समान घरबार के काम-काज में लगी रहती थीं। उसे धर्म की मौलिक बातों से कोई सम्बन्ध नहीं था। उसकी रुचि सांसारिक थी। उसे खाने, पीने, कपड़े

और आभूषण में ही रस मिलता था, परन्तु मैत्रेयी की रुचि भिन्न थी। वह ब्रह्मवादिनी थी। उसकी दृष्टि संसार की चीज़ों को पार करके आगे जाती थी। उसे मौलिक प्रश्नों के समाधान करने में आनन्द आता था। एक दिन याज्ञवल्क्य के मन में इतना वैराग्य उत्पन्न हुआ कि उन्होंने घर छोड़ने और संन्यास लेने की ठान ली। उन्होंने मैत्रेयी को बुलाया और कहा, ''हे मैत्रेयी! मैं कल घर छोड़कर संन्यास लेना चाहता हूँ। तुमको चाहिए कि कात्यायनी के साथ मिलकर घर की चीज़ों का बटवारा कर लो।''

मैत्रेयी बोली, ''भगवन्! यदि यह समस्त पृथ्वी धन से भरपूर होकर मुझे मिल जाए तो क्या मैं इसको पाकर अमर हो जाऊँगी?''

कैसा अच्छा प्रश्न था? बड़े-से-बड़े सेठ, बड़े-से-बड़े धनी, बड़े-से-बड़े राजे-महाराजे जिनका प्रभुत्व इस पृथ्वी के बड़े-से-बड़े मुल्कों पर है अमरत्व को प्राप्त नहीं कर सके। धन का डाह मनुष्य को अधिक लालची बनाता है। जिस प्रकार अग्नि पर घी छोड़ने से अग्नि की ज्वाला बढ़ती है कम नहीं होती इसी प्रकार अधिक धन पाकर भी मनुष्य अधिक लोभी बन जाता है। जिसके पास दस रुपये हैं उसको बीस की चाह है; जिसके पास बीस हैं वह पचास चाहता है; जिसके पास लाख हैं वह दस लाख चाहता है। यह धन की लिप्सा मनुष्य को छोड़ती नहीं।

मैत्रेयी इस बात को समझती थी। अपने पति याज्ञवल्क्य से धन के बटवारे की बात सुनकर बोल उठी, ''भगवन्! यह

बताइए कि मैं आपके इस धन को बाँटकर क्या अमर बन सकती हूँ। यदि अमर बन जाऊँ तो आपके धन को लेना मेरे लिए ठीक ही है।''

याज्ञवल्क्य बोले, ''हे मैत्रेयी! धन से तो वही काम निकल सकता है जो संसार में निकला करता है। धन तो जीवन निर्वाह का उपकरण या साधनमात्र है। रोटी खा लो तो उस समय की भूख तो निवृत्त हो जाएगी। कपड़ा पहन लो तो सर्दी-गर्मी के कष्टों से बचाव हो सकता है। धन से और अमरता से क्या सम्बन्ध? धन आदि सांसारिक वैभवों से अमरत्व की आशा करना सर्वथा भूल है।''

यह सुनकर मैत्रेयी बोल उठी, ''भगवन्! फिर आप मुझे ऐसी चीज़ क्यों दे रहे हैं जिससे अमृत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो चीज़ मुझको अमर नहीं बना सकती उसको लेकर मैं करूँगी ही क्या? आप तो मुझको अमरत्व का रहस्य बताइए मैं आपके मुख से अमरता का उपदेश सुनना चाहती हूँ।

याज्ञवल्क्य अपनी प्यारी पत्नी का यह उत्तर सुनकर पुलकायमान हो उठे। वह बोले, ''तू हमारी प्यारी पत्नी है। तू प्यारी बात कहती है, क्योंकि अमरत्व के उपदेश से प्यारी और कौन चीज़ है। आ! मैं तुझको उपदेश करूँगा। तू ध्यान देकर सुन।''

मैत्रेयी का हृदय पवित्र था। उसका आत्मा उच्च था। उसको सांसारिक पदार्थों में आनन्द नहीं आता था। वह समझती थी कि मेरा पति याज्ञवल्क्य ऋषि है। वह ब्रह्मज्ञानी है तभी तो संसार के वैभव को छोड़कर संन्यास लेना चाहता है। यदि संसार के

वैभव में असली सुख होता तो मेरा पति इन वस्तुओं को क्यों छोड़ता? कोई मनुष्य किसी अच्छी चीज़ को बुरी चीज़ के लिए नहीं छोड़ता, क्या बात है कि मेरे पति को संसार से वैराग्य हो गया। वह मैत्रेयी इसी रहस्य को जानना चाहती थी। वह बोल उठी, ''महाराज! जिस चीज़ से मेरे आत्मा का भला नहीं होता उसको लेकर मैं क्या करूँगी। धन-धान्य और आभूषण से तो मेरे शरीर को उतना ही काम लेना चाहिए जिससे जीवन यात्रा का निर्वाह हो जाए। इससे अधिक का लालच हानिकर होगा। इसलिए आप मुझे ऐसी चीज़ का उपदेश करें जिससे मेरी आत्मा का कल्याण हो। मैं अमरत्व को प्राप्त हो जाऊँ।''

संसार में कितने मनुष्य ऐसे हैं जो परलोक का विचार करते हैं। साधारण मनुष्य संसार की भूल-भूलैय्यों में पड़ा रहता है और एक दिन उन्हीं में पड़ा हुआ मर जाता है। मरना तो सभी को है। अमर कौन है? मैत्रेयी ने इसी प्रश्न को याज्ञवल्क्य से किया था। मैत्रेयी पारलौकिक सुख चाहती थी। मैत्रेयी उस रहस्य को जानना चाहती थी जिसके ज्ञान को पाकर वह संसार के तुच्छ तत्त्व से ऊँची उठ सके। धन्य हो याज्ञवल्क्य जिनको मैत्रेयी जैसी पत्नी मिली और धन्य हो मैत्रेयी जिनको याज्ञवल्क्य जैसा ब्रह्मवादी पति मिला। धन्य है वह घर जिसमें ऐसे पति-पत्नी हों। जिन घरों में भगवत्-कथा नहीं होती, जिन परिवारों में ईश्वर का नाम नहीं लिया जाता, जिन घरों में धर्मोपदेश की लालसा नहीं है उनके स्त्री-पुरुष किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकते। उनके हृदय की कालिमा नित्य बढ़ती जाती है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि परमात्मा को याद करे और ऐसी चीज़

के लिए प्रार्थना करे जिसके मिलने से इस संसार की उन्नति करते हुए परलोक की उन्नति हो सके वह प्रार्थना क्या है? सुनिये—

[३]

श्रेष्ठवर!

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणा मेष वरस्तृतीयः॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञे यमणुरेष धर्मः। अन्यं वरं नचिकेतो बृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा स्टजैनम्॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन् न सुविज्ञेयमात्थ। वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्॥ शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावद् इच्छसि॥ एतत् तुल्यं यदि मन्यसे वरंवृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतः त्वम् एधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥ ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः॥ आभिर्मत् प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥ श्वोभावा मर्त्यस्य यद् अन्तक एतत् सर्वे इन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपिसर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्तगीते॥ न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा। जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव॥ अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन् मर्त्यः

क्रधःस्थः प्रजानन्। अभि ध्यायन् वर्णरति प्रमोदान् अति दीर्घे जीविते को रमेत॥ यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत् साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्॥ योऽयं वरो गूढ़मनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान् नचिकेता वृणीते॥ —केनोपनिषत् अध्याय १, वल्ली १

वाजश्रवा नामी एक महात्मा थे, उनके पुत्र का नाम था नचिकेता। पिता ने पुत्र को उपदेश प्राप्त करने के लिए यमाचार्य के पास भेज दिया जिनका नाम 'अन्तक' या 'मृत्यु' भी बतलाया गया है। जब नचिकेता यमाचार्य के घर पहुँचा तो यमाचार्य बाहर गए हुए थे। नचिकेता तीन दिन बिना अन्न-पान किये हुए यमाचार्य के दरवाज़े पर पड़ा रहा। जब यमाचार्य घर लौटे और सुना कि एक युवक ब्रह्म-जिज्ञासु तीन दिन से हमारे घर पर बिना अन्नजल किये पड़ा है तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ और मन में कहने लगे कि वह कौन विचित्र पुरुष है जो आत्मज्ञान की प्यास से इतना व्याकुल हो रहा है। वस्तुतः जिस मनुष्य के हृदय में आत्मज्ञान की प्यास तीव्र हो जाती है वही आत्मज्ञान को प्राप्त कर सकता है।

जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूंढ़न गई रही किनारे बैठ॥

जिसने तपस्या नहीं की, जिसने ज्ञान के सागर में डुबकी नहीं लगाई उसको ज्ञानरूपी मोती कैसे मिलेगा? संसार में ऐसे बहुत हैं जो कौड़ियों को देकर हीरा खरीदना चाहते हैं, जो दो चार रुपये दान करके ज्ञान या मुक्ति चाहते हैं। परन्तु ऐसे दुनियाँ के लोलुप मनुष्यों को आत्मज्ञान नहीं हो सकता। वे दुनिया को ठगना चाहते हैं और दुनिया उनको ठगा करती है। यही ठगी

का व्यापार लगातार चलता रहता है।

लोभी गुरु लालची चेला दोनों खेले दाव।
भवसागर में डूबते बैठ पथर की नाव॥

नचिकेताजी ऐसे शिष्य नहीं थे, उन्होंने अपने तीन दिन के उपवास से सिद्ध कर दिया था कि वह आत्म-ज्ञान के सामने संसार की किसी वस्तु को भी अप्राप्तव्य नहीं समझते थे। परन्तु यमाचार्य इतने से सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने नचिकेता की और परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने सोचा, "देखना चाहिए कि यह सच्चा जिज्ञासु है अथवा यों ही आया है"। उन्होंने कहा—"हे नचिकेता, तू तीन दिन मेरे द्वार पर भूखा पड़ा रहा, इसके बदले तू मुझ से तीन वर माँग ले"। नचिकेता ने दो साधारण वर माँगने के उपरान्त तीसरा वर माँगना आरम्भ किया। इसी का विधान ऊपर के संस्कृत श्लोकों में दिया हुआ है। नचिकेता ने पूछा—

जब मनुष्य मर जाता है तो प्रश्न होता है कि मरकर जीव का क्या हुआ? क्या शरीर की मृत्यु के साथ जीव का भी नाश हो जाता है? ऐसी शङ्का उत्पन्न हुआ करती है, कोई तो कहते है कि मरने के उपरान्त जीव रहता है और कोई कहते हैं कि नहीं रहता। मैं यही जानना चाहता हूँ। आप ऐसा उपदेश करें कि यह ठीक-ठीक मेरी समझ में आ जाए। यही मेरा तीसरा वर है॥ १ ॥

यमाचार्य बोले—"हे नचिकेता! यह तो बड़ा गूढ़ प्रश्न तूने पूछ डाला। इसका समझ में आना कठिन है। पुराने युग में बड़े-बड़े विद्वानों को भी यह शङ्का हो चुकी है और इसका समाधान उनके लिए भी कठिन था। इसलिए हे नचिकेता! कठिन

विषय को मेरे लिए ही छोड़ दे। मुझे मत रोक! कोई दूसरा वर माँग ले॥ २॥

नचिकेता ने कहा—''यह ठीक है कि पूर्वकाल के विद्वानों को भी यह शङ्का हो चुकी है और यह भी ठीक है कि यह विषय सबकी समझ में सुगमता से नहीं आ सकता परन्तु इसीलिए तो मैं आपके पास आया हूँ। यदि साधारण बात होती तो इसका समाधान कहीं भी हो सकता था। आप जैसे महान् व्यक्ति के पास आने की क्या आवश्यकता थी। आपसे अन्य मुझे कौन ऐसा मिलेगा जो मेरी शङ्का को दूर कर सके। इसलिए हे यमाचार्य! आप मुझे इसी प्रश्न का उत्तर समझा देवें। इस प्रश्न से बढ़कर तो कोई प्रश्न है ही नहीं''॥ ३॥

यमाचार्य ने कहा—''हे नचिकेता! कोई और वर माँग। सौ वर्ष तक जीवित रहनेवाले बेटे-पोतों को माँग ले, चाहे तो पशुओं को माँग, हाथी माँग, सोना माँग, घोड़े माँग, बहुत लम्बी-चौड़ी भूमि माँग, यदि लम्बी आयु माँगना है तो इसे माँग। जब तक चाहे जीवित रह। इसी के तुल्य यदि कोई और वर माँगना है तो उसे माँग, बहुत धन माँग, बहुत देर तक रहनेवाली जीविका को माँग; बड़ी भारी भूमि में तेरा वैभव बढ़े। मैं तुझे वर देता हूँ कि जो तेरी इच्छाएँ हो सभी पूरी हो जाएँ।''

''इस संसार में जो-जो दुर्लभ पदार्थ हैं। उन सबको इच्छानुसार माँग डाल। अच्छे-अच्छे रथों में बैठनेवाली और बाजे-गाजे के साथ चलनेवाली सुन्दर स्त्रियों को माँग ले। जो स्त्रियाँ मनुष्य को साधारणतया प्राप्त नहीं हो सकती, ऐसी स्त्रियाँ मैं दिला दूँ और इनके द्वारा तू अपनी सेवा कराया कर। यह

सब कुछ आसान है। परन्तु मौत का प्रश्न कठिन है। हे नचिकेता तू मौत के विषय में प्रश्न मत कर'' ॥ ६ ॥

नचिकेता इस लोभ में आनेवाला नहीं था। उसने उत्तर दिया—''हे यमाचार्य! आपने जो यह संसार के सुख बताए वे तो क्षणिक हैं। आज हैं कल नहीं रहेंगे। जो मनुष्य इनको भोगने में लगता है उसकी इन्द्रियों का तेज क्षीण हो जाता है। फिर जीवन भी थोड़ा ही है। अमर कौन है? इसलिए महाराज, मुझे खिलौना देकर बच्चों के समान बहलाइये मत! अपने रथ आदि और अपने बाजे-गाजे सब अपने लिए रखिए। मेरे लिए तो यह दो कौड़ी की चीज़ है। इनको लेकर मैं क्या करूँगा'' ॥ ७ ॥

''मनुष्य की धन से सच्ची तृप्ति नहीं हो सकती, जब आपके दर्शन हो गये तो धन तो हम पा ही जाएँगे। यह भी ठीक है कि जब तक आपकी इच्छा होगी हम जीते रहेंगे। परन्तु ऐसा वर माँगकर हम क्या करें। हमारा वर तो वही है जिसका ऊपर वर्णन किया। अर्थात् मौत के रहस्य को समझा दीजिए'' ॥ ८ ॥

''अजर और अमर के पास पहुँचने के पश्चात् कौन ऐसा बुद्धिमान मनुष्य होगा जो संसार के क्षणभंगुर विषयों, अच्छे रङ्गवाली स्त्रियों आदि के सुख में या लम्बी आयु में सुखों का अनुभव करे। अब तो मैंने आप जैसे परम आचार्य को पा लिया है। आपसे अधिक तत्त्ववेत्ता कौन मिलेगा। इसलिए मैं आपसे सांसारिक भोगों को माँगकर सन्तुष्ट नहीं हो सकता'' ॥ ९ ॥

''हे यमाचार्य जिस विषय में लोगों को बड़ा सन्देह है कि मरने के उपरान्त जीव रहता है या नष्ट हो जाता है, इसी सन्देह का निवारण कीजिए। यही प्रश्न गूढ़ है और मैं इसी प्रश्न को

पूछना चाहता हूँ। नचिकेता ऐसा मूर्ख नहीं कि इस गूढ़ प्रश्न को छोड़ देवे"॥ १० ॥

यह हैं नचिकेता के प्रश्न! जिसके हृदय में अमरत्व के जानने की इच्छा है वह छोटी चीजों में अपना समय नहीं गँवाता। यही प्रश्न कबन्धी ने पिप्पलाद से किया था। यही प्रश्न मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से किया और यही प्रश्न नचिकेता ने यमाचार्य से किया। सच्चा जिज्ञासु किसी महात्मा के पास जाकर यही प्रश्न करता है क्योंकि और सब बातें तो क्षणिक हैं, नश्वर हैं, सदा नहीं रहतीं। आज धन है कल नहीं रहेगा। जो आज राजा है वह कल रङ्क हो जाता है। आज जो पहलवान है कल रोगी हो जाता है। महलों में बैठनेवालों को झोपड़े भी नहीं मिलते। ऐसी क्षणिक चीजों की बुद्धिमान मनुष्य क्यों परवाह करे? क्योंकि आत्मा अमर है। इसी का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य को परम आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

[४]

मौलिक प्रश्न

अथ हैनम् उषस्तः चाक्रायणः पप्रच्छ "याज्ञवल्क्य" इति होवाच "यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः तं मे व्याचक्ष्व" इति। "एष त आत्मा सर्वान्तरः"। "कतमो याज्ञवल्क्य", "सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो अपानेन अपानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेन उदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा

सर्वान्तरः ॥ १ ॥

स ह उवाच उषस्तः चाक्रायणः, "यथा बिब्रू याद् असौ गौः असौ अश्वः इति एवं एव तद् व्यपदिष्टं भवति यद् एव साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्त मे व्याचक्ष्व" इति। "एष त आत्मा सर्वान्तरः"। "कतमो याज्ञवल्क्य?" "सर्वान्तरो न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयान् न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं" ततो ह उषस्तः चाक्रायणः उपरराम ॥ २ ॥

—बृहदारण्यक-उपनिषद् अध्याय ३, ब्राह्मणं ४

चाक्रायण उषस्त एक महात्मा थे, उन्होंने याज्ञवल्क्य से पूछा—"यह जो साक्षात प्रत्यक्ष ब्रह्म है जो सब का अन्तरात्मा है उसको मुझे साफ-साफ बता दो"?

याज्ञवल्क्य ने कहा—"ब्रह्म वही है जो हम सबके भीतर विद्यमान्, हमारे आत्माओं का भी आत्मा है,"।

चाक्रायण उषस्त बोले—"हे याज्ञवल्क्य! उसी को मैं पूछता हूँ। वह कौन-सा आत्मा है?"

याज्ञवल्क्य—"हे उषस्त! यह वही आत्मा है जिसके द्वारा तुम्हारे प्राणों में प्राण व्यापार की शक्ति आती है। अपान में अपान की शक्ति आती है, व्यान में व्यान की शक्ति आती है और उदान में उदान की शक्ति आती है। अर्थात् वह ब्रह्म प्राणों का भी प्राण है, वही तुम सबका अन्तरात्मा है।"

इसपर चक्रायण उषस्त सन्तुष्ट नहीं हुए और कहने लगे, "देखो, जब किसी को गौ का साक्षात् कराते हैं तो कहते हैं कि देखो यह गौ है, और जब किसी को घोड़े का साक्षात कराते

हैं तो उसको सामने दिखाकर कहते हैं कि यह घोड़ा है। इस प्रकार देखनेवाले को सन्तोष हो जाता है। उस सर्वान्तर्यामी ब्रह्म को भी इसी प्रकार दिखाकर प्रत्यक्ष कराइए कि यह ब्रह्म है जिससे हमको कोई सन्देह ही न रह सके।" याज्ञवल्क्य ने फिर वही उत्तर दुहरा दिया कि "वही ब्रह्म है जो तुम्हारे आत्मा का भी अन्तरात्मा है"। उषस्त ने फिर पूछा "अजी, यही तो मैं पूछता हूँ कि वह ब्रह्म क्या है? मुझे स्पष्ट दिखाकर बताओ।"

अब याज्ञवल्क्य ने उषस्त चाक्रायण से कहा, "भाई, समझो! कहीं आँख की आँख को भी देख सकते हैं। आँख तो दीखती है परन्तु देखनेवालों को कोई नहीं देख सकता कान से सुननेवाले को सुन नहीं सकते, मन से सोचनेवाले को सोच नहीं सकते, बुद्धि से बोधन करानेवाले को बोधन नहीं करा सकते। यही आप सब के भीतर व्यापक आत्मा है। वही ब्रह्म है, वही तो मुख्य है। और सब तो दुखमय है।" यह सुनकर उषस्त चाक्रायण चुप हो गए।

आजकल भी उषस्त के समान बहुत से लोगों की यह माँग रहती है कि ब्रह्म दिखाई देने लगे या कानों से सुनाई देने लगे। बहुत सी कहानियाँ गढ़ ली गई हैं कि अमुक ने तपस्या की और परमात्मा ने मनुष्यरूप होकर साक्षात् दर्शन दिए। बहुत से कान बन्द करके ध्वनि सुनाते हैं और कहते हैं "यही ब्रह्म है जिसकी ध्वनि सुनाई देती है," याज्ञवल्क्य ने इसी भ्रम को दूर किया है। आँख से दूसरी चीज़ देखी जाती है पर जो आँख से देखता है उसको कोई नहीं देख सकता। ईश्वर तो आँख की भी आँख है। कान का भी कान है और मन का भी मन है,

अर्थात् वह इतना सूक्ष्म है कि गाय या घोड़े के समान उसको देखना या छूना असम्भव है। वह इन्द्रियों से नहीं दिखाई दे सकता। उसको तो आत्मा के भीतर ही अनुभव करना चाहिए।''
वह ईश्वर कैसा है इसके विषय में आगे कहा जाएगा।

द्वितीय आह्निक—जीव का स्वरूप

[५]

तत्त्वमसि-स्वप्न का दृष्टान्त

पिछले आह्निक में अमरत्त्व के प्रश्न को उठाकर इस आह्निक में इसका उत्तर देते हैं। यह प्रश्न सबके मन में उठता है कि मरने के पश्चात् मैं कहाँ जाऊँगा? मेरा क्या होगा? मैं नष्ट हो जाऊँगा अथवा किसी न किसी अवस्था में मेरा अस्तित्व रहेगा? कोई कहता है कि मरने के पीछे पापी जीव नरक को जाता है और पुण्यात्मा स्वर्ग को। नरक में अनेक प्रकार के कष्ट हैं और स्वर्ग में उत्तमोत्तम पदार्थ भोगने को मिलते हैं। कोई कहता है कि मरने के पीछे न कोई जीव बचता है न कहीं जाता आता है, शरीर के साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है, 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुरागमनं कुतः' जब शरीर भस्म हो गया तो कहाँ आना और कहाँ जाना?

परन्तु मौत के पीछे हमारी क्या दशा होगी इसे जानने से पहले हमको यह समझ लेना उचित है कि आजकल इस जीवनकाल में हमारी क्या अवस्था है। हम इस समय क्या हैं? जीव शरीर से अलग कोई चीज़ है या इस शरीर का नाम ही जीव है। हम खाते हैं, पीते हैं, मोटे होते हैं, दुबले होते हैं। हम समझते हैं कि हमीं मोटें या दुवले हो रहे हैं, यह मोटा या दुबला होनेवाला है। गोरा या काला या सांवला रङ्ग रखनेवाला जीव ही है, परन्तु उपनिषद् कहती है कि यदि इसी शरीर का नाम जीव है तो जीव

भी शरीर के समान क्षणभङ्गुर होगा, इस क्षणभङ्गुर आत्मा के लिए तो कर्त्तव्य शेष नहीं रहता।

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।

जब तक जियो सुख से रहो। खाओ पियो मौज उड़ाओ। धर्म क्या है और अधर्म क्या है इसके पचड़े में क्यों पड़ते हो? क्या इस प्रकार के विचार ठीक हैं?

इसका बहुत अच्छा वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में किया गया है, देखिये—

उद्दालको ह्यारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहि' इति। ''यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नोभवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं 'स्वपिति' इति आचक्षते स्वं हि अपीतो भवति॥ १॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्र आयतनम् अलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्र आयतनम् अलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य मन'' इति॥ २॥

''अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहि'' इति। यत्र एतत् पुरुषोऽअशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते तद् यथा गोनायः अश्वनायः पुरुषनाय इति एवं तदप आचक्षतेऽशनाय इति तत्र एतत् शुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि न इदं अमूलं भविष्यति'' इति॥ ३॥

तस्य क्व मूलं स्याद् अन्यत्र अन्नाद् एवमेव खलु सोम्य अन्नेन शुंगेन अपोमूलम् अन्विच्छ सन्मूलाः सोम्य इमा सर्वाप्रजाः सदायतनाः सत् प्रतिष्ठाः॥ ४॥

अथ यत्र एतत् पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते। तद्यथा गोनायोऽश्वनाय। पुरुषनाय इत्येवं तत् तेज आचष्ट उदन्येति तत्र एतद् एव शुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि न इदममूलं भविष्यति। इति ॥५॥

तस्य क्व मूलं स्याद् अन्यत्र अद्भ्यो अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेनसन्मूलम् अन्विच्छ सन्मूलाः।सोम्य इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा तु खलु सोम्य इमास्तिस्त्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृद् एकाएका भवति तदुक्तं पुरस्ताद् एव भवति अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्॥ ९ ॥

स य एषोऽणिमा एतद् आत्म्यम्, इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो इति॥७॥ —छान्दोग्य उपनिषद् ६।८

अरुण के पुत्र उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा— ''हे सोम्य, तू मुझसे स्वप्न का मूल समझ ले। जब मनुष्य सोता है तो संस्कृत भाषा में कहा करते हैं ''स्वपिति''। 'स्वपिति' का अर्थ हुआ 'स्वं हि अपीतो भवति' अर्थात् अपनत्व को प्राप्त हो जाता है।

जिस प्रकार चिड़िया के पैर में डोरा बाँध दिया जाय तो वह चिड़िया इधर-उधर उड़कर भी फिर अपने ही स्थान पर आ जाती है क्योंकि उसको दूसरी जगह आश्रय नहीं मिलता। इसी प्रकार यह मन-प्राण के धागे से बँधा हुआ इधर-उधर भटकता हुआ फिर उसी प्राण में ही लौट आता है क्योंकि और जगह उसको आश्रय नहीं मिलता।

''हे सोम्य, मुझसे भूख और प्यास का मूल भी समझ लें। जब किसी को भूख लगती है तो संस्कृत भाषा में कहते हैं 'अशिशिषति' (खाने की इच्छा करता है), 'अशनाय' नाम है जल का, जैसे 'गोनाय' नाम है गौओं के नायक अर्थात् चरवाहे का, 'अश्वनाय' नाम है घोड़ों के नायक अर्थात् अश्वपाल का, 'पुरुषनाय' नाम है पुरुषों के नायक सेनापति का, इसी प्रकार 'अशनाय' नाम है भोजन को ले जानेवाले जल का। जब जल खाए हुए भोजन को पचाकर शरीर के अन्य अवयवों में पहुँचा देता है तभी पेट के खाली होने पर मनुष्य को भूख लगती है। इस शरीररूपी वृक्ष का यही अंकुर है। यही मूल है। कोई चीज़ बिना मूल के नहीं हो सकती। इस शरीर का भी मूल है। इसी मूल से यह शरीर बढ़ता है। अन्न से पुष्ट होते हुए शरीर का मूल जल है। यह सब सृष्टि 'सत्' से ही उत्पन्न हुई है, सत् ही इसकी प्रतिष्ठा अर्थात् बुनियाद है। सत् ही में इस की स्थिति है।

जब मनुष्य को प्यास लगती है तो संस्कृत भाषा में कहते हैं 'पिपासति' (पीने की इच्छा करता है), प्यास क्यों लगती है? उदन्य नाम है अग्नि का। जैसे गौओं के नायक को 'गोनाय' या चरवाहा कहते हैं, घोड़ों के नायक को 'अश्वनाय' या अश्वपाल कहते हैं, मनुष्यों के नायक को 'पुरुषनाय या सेनापति कहते हैं, उसी प्रकार उदक या जल के ले जानेवाले अग्नि का नाम उदन्य है। क्योंकि शरीर में अग्नि पिये हुए जल को गैस बनाकर अन्य स्थान में पहुँचा देती है और पानी न रहने से पानी पीने की इच्छा होती है। इसका मूल जलों के बाहर कहाँ मिलेगा। इसलिए जल के मूल को अग्नि में ही ढूंढ़ना चाहिए, अग्निरूपी

अंकुर का मूल सत् है, सत् ही सब की प्रतिष्ठा या बुनियाद है। सत् ही में सब की स्थिति है। बिना सत् के कोई चीज़ उत्पन्न नहीं हो सकती, इसलिए इसी मूल को पहचानना चाहिए।

यह तीन देवता अर्थात् अन्न, जल और अग्नि जब पुरुष के शरीर को प्राप्त होते हैं तो तीन-तीन करके एक-एक हो जाते हैं। ऐसा पहले कहा गया है। जब मरता है तो वाणी मन में लय हो उठती है और मन प्राण में। प्राण अग्नि में और अग्नि सूक्ष्म तत्त्व में।

यह सूक्ष्म तत्त्व ही आत्मा है। यही सत् है, यह सत् आत्मा ही तू है हे श्वेतकेतु!

यह संस्कृत वाक्यों का भावार्थ, अब इसके तत्त्व को समझिए। आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाना चाहता है कि केवल 'क्षिति जल पावक गगन समीरा' अर्थात पाँच तत्त्वों के सङ्घात मात्र का नाम शरीर नहीं है। शरीर के व्यापारों से पता चलता है कि शरीर को चलानेवाली एक सूक्ष्म सत्ता है जिसको आत्मा कहते हैं, यहाँ चार व्यापारों का उल्लेख किया गया है (१) स्वप्न या सोना (२) भूख (३) प्यास (४) मृत्यु। यदि शरीर के भीतर एक शरीरी अर्थात् अभौतिक आत्मा न होता तो यह चारों व्यापार न हो सकते। एक एक करके समझिए।

'स्वप्न' यहाँ स्वप्न का अर्थ है 'सुषुप्ति' या घोर निद्रा जिसमें मनुष्य बेख़बर सोता है। यह 'सोना' क्या चीज़ है? 'स्वपिति' का अर्थ है 'स्वं अपीतो भवति', अपने आपे में मिल जाना। जगने की दशा में जीव की वृत्तियाँ बाहरी पदार्थों में लगी हुई थीं। उसका सम्पर्क बाहर की चीज़ों में था, परन्तु जैसे क़बूतर

के पैर में धागा बाँध दिया जाए तो वह घूम-फिरकर फिर अपने ही स्थान पर वापिस आ जाता है उसी प्रकार मनुष्य का मन बाहरी पदार्थों में घूमता हुआ भी पीछे से थककर अपने आप में ही आ लगता है। क्योंकि मन आदि का मूल तो जीवात्मा ही है जो शरीर के भीतर उपस्थित है। बिना मूल के कोई चीज़ नहीं होती, शरीर का जो यह मूल है वही जीवात्मा है। हे श्वेतकेतु असली तू यही आत्मा है। तू शरीर नहीं है।

भूख और प्यास का भी व्यापार यही बताता है। शरीर बढ़ता है अन्न से, अन्न पचता है जल से, जल पचता है अग्नि से और अग्नि में प्रेरणा होती है जीवात्मा से। इसलिए मूल में तो जीवात्मा ही हुआ। यदि जीव न होता तो यह व्यापार भी न होते। भूख और प्यास केवल अन्न और भोजन के अभाव के कारण नहीं है। भूख और प्यास वह इच्छा है जो भीतर से उठती है। कल्पना कीजिए कि मकान में कुर्सी नहीं है और बैठनेवाला भी नहीं तो कुर्सी के अभाव में भी कुर्सी की इच्छा नहीं होती, परन्तु यदि कुर्सी न हो और कुर्सी का बैठनेवाला हो तो वह कुर्सी की आवश्यकता का अनुभव करके उसकी इच्छा करेगा। यह इच्छा ही कुर्सी पर बैठनेवाले के अस्तित्व को सिद्ध करती है। इसी प्रकार भूख और प्यास केवल अन्न और जल के अभाव का कारण नहीं है, किन्तु अन्न के अभाव में ''अन्न की इच्छा'' को भूख और जल के अभाव में ''जल की इच्छा'' को प्यास कहते हैं। जीवात्मा इन इच्छाओं का मूल है।

अब लीजिए मृत्यु को। मरनेवाले की पहले वाणी बन्द होती है। लोग कहते हैं कि यह बोलता नहीं। वाणी मन में लय हो

जाती है, क्योंकि वाणी का व्यापार बिना मन के व्यापार के नहीं हो सकता। थोड़ी देर में मन भी व्यापार करना छोड़ देता है। वह प्राण में लय हो जाता है। प्राण के व्यापार के बिना मन का व्यापार नहीं हो सकता। लोग कहते हैं ''पहचानता तो नहीं परन्तु शरीर में गर्मी तो है।'' इसके पश्चात् प्राण आत्मा में लय हो जाता है। यह अन्तिम सूक्ष्म तत्त्व ही आत्मा है। आरुणि कहते हैं कि ''हे श्वेतकेतु, असली तू वही सूक्ष्म आत्मा है। केवल शरीर का नाम 'तू' नहीं है।

[६]

तत्त्वमसि-न्यग्रोध का दृष्टान्त

श्वेतकेतु—'भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु' इति।
आरुणि—'तथा सोभ्य' इति होवाच।
आरुणि—'न्यग्रोधफलमत आहर' इति।
श्वेतकेतु—'इदं भगव' इति।
आरुणि—'भिन्धि' इति।
श्वेतकेतु—'भिन्नं भगव' इति।
आरुणि—'किमत्र पश्यसि' इति।
श्वेतकेतु—'अण्व्य इव इमा धाना भगवः' इति।
आरुणि—'आसाम् अङ्ग एकां भिन्धि' इति।
श्वेतकेतु—'भिन्ना भगव' इति।
आरुणि—'किमत्र पश्यसि' इति।
श्वेतकेतु—'न किंचन भगव' इति।
तं होवाच ''यं वै सोम्य एतमणिमानं न निभालयस एतस्य

वै सोम्य एषोऽअणिम्न एव महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति। श्रद्धत्स्व सोम्य इति। स य एषोऽणिमा एतद् आत्म्यं इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'' इति।

—छान्दोग्य उपनिषत् ६।१२

श्वेतकेतु ने कहा, ''महाराज और साफ़-साफ़ समझाइए, अभी समझ में नहीं आया।''

आरुणि बोले, ''अच्छा! समझाता हूँ। एक बरगद के वृक्ष का बीज ले आओ।''

श्वेतकेतु—''ले आया महाराज।''

आरुणि—''तोड़ डालो।''

श्वेतकेतु—''तोड़ डाला।''

आरुणि—''क्या देखते हो?''

श्वेतकेतु—''छोटे-छोटे दाने।''

आरुणि—''इनमें से एक दाने को पीस डालो।''

श्वेतकेतु—''पीस डाला।''

आरुणि—''अब क्या देखते हो?''

श्वेतकेतु—''कुछ भी नहीं।''

आरुणि बोले, ''हे सोम्य! जिस सूक्ष्म चीज़ को तू नहीं देख पाता उसी की महिमा से तो इतना बड़ा बरगद का वृक्ष उत्पन्न हुआ था। वह बड़ा बरगद इसी बीज के भीतर छिपा हुआ है। इसी पर श्रद्धा कर। यह सूक्ष्म तत्त्व ही है जो आत्मा है। इसी प्रकार यह जो सब कुछ है आत्मा से ओत-प्रोत है। जिस सूक्ष्म आत्मा के कारण यह शरीर ठहरा हुआ है और जो तुझे दिखाई नहीं पड़ता वही असली तू है। इस शरीर का नाम तू नहीं है।

यहाँ बरगद के बीज की सूक्ष्मता और वृक्ष का बड़ापन दिखाकर आरुणि ने अपने पुत्र को समझा दिया कि जीवात्मा वह सूक्ष्म पदार्थ है जो शरीर से इतर एक स्वतन्त्र सत्ता है और इसी सत्ता के कारण शरीर ठहरा हुआ है। जो शरीर को ही आत्मा समझें हुए हैं वह भूलते हैं।

[७]

तत्त्वमसि—नमक का दृष्टान्त

श्वेतकेतु—'भूय एवमा भगवान् विज्ञापयतु' इति।

आरुणि—'तथा सोम्य' इति होवाच।

लवणमेतद् उदकेऽवधाय अथ मा प्रातः उपसीदथा' इति। सह तथा चकार। तं हो वाच ''यद्दोषा लवण-मुदकेऽबाधा अङ्ग तदाहर'' इति। तद् ह अवमृश्य न विवेद।

''यथा विलीनमेव अङ्ग अस्य अन्ताद् आचाम'' इति।

आरुणि—'कथम्' इति।

श्वेतकेतु—'लवणम्' इति।

आरुणि—'मध्याद् आचाम' इति। 'कथम' इति।

श्वेतकेतु—'लवणम्' इति।

आरुणि—'अन्ताद् आचाम' इति। 'कथम' इति।

श्वेतकेतु—'लवणम्' इति।

आरुणि—'अभिप्राश्य एनद् अथ मा उपसीदथा' इति।

'तद्ह तथा चकार। तच्छश्वत् संवर्तते तꣳ होवाचात्र वाव किल सत् सोम्य न निभालयसेऽत्र एव किल' इति।

स य एषोऽणिमा एतद् आत्म्यं इदꣳ सर्वं तत् सत्यं स आत्मा

तत्त्वमसि। श्वेतकेतो। —छान्दोग्य० ६।१३

श्वेतकेतु ने कहा, "महाराज! और समझाइए।"

आरुणि बोले, "अच्छा सोम्य! इस नमक को ले जाकर पानी में घोल दो और कल प्रातःकाल मेरे पास आओ।"

श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। जब वह आया तो उसके पिता आरुणि ने पूछा, "कल जो नमक तुमने इसमें डाला था उसको ले आओ।"

श्वेतकेतु ने नमक ढूँढा, परन्तु उसे दिखाई नहीं पड़ा।

आरुणि ने कहा, "देखो, यह नमक इसी पानी में घुल गया है और दिखाई नहीं पड़ता। इसको जानना चाहते हो तो जल को ऊपर से चक्खो।"

आरुणि—"कहो, कैसा है?"

श्वेतकेतु—"नमकीन है।"

आरुणि—"बीच में से चक्खो कैसा है?"

श्वेतकेतु—"नमकीन।"

आरुणि—"नीचे से चक्खो कैसा है?"

श्वेतकेतु—"नमकीन।"

आरुणि—"अच्छा अब इस जल को फेंक कर मेरे पास आओ।"

उसने वैसा ही किया और कहा, "इसमें तो नमक सभी जगह मौजूद था।"

आरुणि ने उत्तर दिया कि "जिस प्रकार यह नमक दीखता नहीं, परन्तु है। इसी प्रकार शरीर में आत्मा भी है और दिखाई नहीं पड़ता। हे श्वेतकेतु! असली तू, वही आत्मा है। शरीर का

नाम आत्मा नहीं है। शरीर जड़ है। शरीर में चेतनता आत्मा के कारण ही उत्पन्न होती है। इस रहस्य को समझना चाहिए।''

[८]

आत्मा और देह का सम्बन्ध

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥
यस्तु अविज्ञानवान् भवति अयुक्तेन मनसा सदा ।
तस्य इन्द्रियाणि अवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्य इन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥
यस्तु अविज्ञानवान् भवति अमनस्कः सदा अशुचिः ।
न स तत् पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ ८ ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः ।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥
इन्द्रियेभ्यः परा हि अर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धे रात्मा महान् परः ॥ १० ॥
महतः परं अव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान् न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोआत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते तु अग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्म्या सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२ ॥

—कठोपनिषद्—प्रथम अध्याय, तृतीय वल्ली ३-१२।

अब कठोपनिषत् में आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है। दृष्टान्त बहुत अच्छा है और सुगमता से समझ में आ जाता है।

आत्मा सवार के तुल्य है और शरीर रथ के समान। बुद्धि को रथ का कोचवान समझना चाहिए और मन को लगाम ॥ ३ ॥

इन्द्रियों (आँख, नाक, कान आदि) को घोड़ा समझना चाहिए। रूप, रस, गन्ध आदि संसार के विषयों को उन घोड़ों का मार्ग समझना चाहिए। विद्वान् विचारशील पुरुषों का मत है कि जीवात्मा मन और इन्द्रियों से सम्बन्ध करके ही विषयों का भोक्ता होता है, अर्थात् जब तक आत्मा का मन से और मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं होता उस समय तक इन्द्रियाँ अपने विषयों को नहीं जान सकतीं और न आत्मा उनको भोग सकता है ॥ ४ ॥

जैसे अज्ञानी कोचवान के वश में दुष्ट घोड़े नहीं रहते और वह रथ को तोड़कर सवार को भी नीचे गिरा देते हैं इसी प्रकार जो बुद्धिमान् नहीं है और जिसका मन उसके वश में नहीं है उसका शरीर भी उसके वश में नहीं रहता और वह इन्द्रियों के विषयों में फँसकर संसार में दुःख उठाता है ॥ ५ ॥

परन्तु जैसे योग्य कोचवान् सुशिक्षित घोड़ों को अपने वश में रखता है और अपने रथ को ठीक स्थान पर पहुँचा देता है उसी प्रकार जो बुद्धिमान् मनुष्य है और जिसका मन उसके वश

में है वह अपने शरीर और इन्द्रियों को भी वश में रखता है और इन्द्रियों को ज्ञान तथा शुभ कर्मों का साधन बनाता हुआ अपनी जीवन यात्रा को सफल बना लेता है॥ ६ ॥

जो अज्ञानी है उसका मन उसके वश में नहीं रहता और उसका आचरण भी अपवित्र होता है। ऐसा मनुष्य मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता और बार-बार नीच योनियों में जन्म लेकर आवागमन के चक्कर में फँसा रहता है और महान् दु:ख उठाता है॥ ७ ॥

जो ज्ञानी है और जिसका मन वश में है उसका आचरण पवित्र होता है। उसी को मोक्षरूपी परमपद की प्राप्ति होती है और वह आवागमन के चक्कर से बच जाता है॥ ८ ॥

जिस सवार के रथ को कोचवान् बुद्धिवाला है और जिसकी मनरूपी लगाम उसके हाथ में है वह जीवनयात्रा को भली प्रकार तय करता हुआ परमपद मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥ ९ ॥

इन्द्रियों से श्रेष्ठ अर्थ अर्थात् पदार्थ हैं। उनसे भी श्रेष्ठ मन है। मन से बुद्धि है। बुद्धि से श्रेष्ठ महत् तत्त्व है॥ १० ॥

महत् तत्त्व से श्रेष्ठ प्रकृति है और प्रकृति से ऊपर पुरुष है। पुरुष से परे कुछ नहीं। यही जीवनयात्रा की सीमा है॥ ११ ॥

सब भूतों में व्यापक आत्मा आँखों से दिखाई नहीं पड़ता, परन्तु जिनकी बुद्धि सूक्ष्म है उनको अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा इस आत्मा का अनुभव हो जाता है॥ १२ ॥

तृतीय आह्निक—भगवान का स्वरूप

[१]

आत्मा और परमात्मा में भेद

पिछले आह्निक में जीव का स्वरूप कहा, अर्थात् जीव एक सूक्ष्म और अदृष्ट वस्तु है जिसके द्वारा यह शरीर जीवित रहता है, जैसे नमक जल में घुला हुआ दिखाई नहीं पड़ता, केवल चखने से जाना जाता है, इसी प्रकार यह जीव भी शरीर में रमा हुआ दिखाई नहीं पड़ता। केवल ज्ञानचक्षु से ही इसको देख सकते हैं। जब मनुष्य यह समझ लेता है कि मैं स्थूल शरीर नहीं हूँ, किन्तु सूक्ष्म और इस शरीर का अधिष्ठाता होकर इसको रथी के समान चलाता हूँ तो मनुष्य को अपने से सूक्ष्म और अपने आधार परमात्मा का भी भान होने लगता है। श्वेताश्वतर उपनिषत् में ऐसा उपदेश है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति॥ १॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशम् अस्य महिमानम् इति वीतशोकः॥ २॥

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन् न वेद कि ऋचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥ ३॥

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति। अस्मान् मायी सृजते विश्वम् एतत् तस्मिँश्च अन्यो मायवा संनिरुद्धः॥ ४॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं उत महेश्वरम्। तस्य अवयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥ ५॥

यो योनिं योनिम् अधितिष्ठति एको यस्मिन् इदं सं च वि चैति सर्वम्। तमीशानं बरदं देव मीड्यं निचाय्य इमां शान्तिम् अत्यन्तं एति॥ ६॥

—श्वेताश्वतर उपनिषद् अध्याय ४, मन्त्र ६-११

अर्थ—यह हमारा शरीर एक वृक्ष के समान है। इस वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। वे दोनों पक्षी अत्यन्त सुन्दर पङ्खोंवाले परस्पर मिलकर रहनेवाले और परममित्र हैं। इनमें से एक इस वृक्ष के फल का स्वाद चखता है और दूसरा फल को नहीं खाता केवल उस शरीर की देखभाल रखता है॥ १॥

यहाँ प्रश्न होता है कि यह दो कौन-से पक्षी हैं। एक का नाम है जीवात्मा और दूसरा का परमात्मा। यह दोनों सुन्दर हैं, सूक्ष्म हैं, निराकार हैं। इनमें स्थूल जगत् की अशुद्धि नहीं है। यह परस्पर साथ रहते हैं। जीव और ईश्वर का सम्बन्ध अटूट्य है। यह कभी टूटता नहीं। जीव कभी ईश्वर से अलग नहीं हो सकता। ईश्वर तो सबमें व्यापक है। जीव और ईश्वर एक-दूसरे के सखा या मित्र हैं। ईश्वर से अधिक जीव का मित्र कौन होगा? ईश्वर तो सदा हमारी भलाई ही करता है। यह दोनों पक्षी शरीररूपी वृक्ष में रहते हैं। हमारे शरीर में हमारा जीव भी है जिसको हम 'हम' कहते हैं और ईश्वर भी है जो हमारे भीतर

भी व्यापक हो रहा है, परन्तु एक भेद है। ईश्वर तो शरीर की देखभाल करता है (अभि+चाक। शीति Supervises) उसको बनाता और उसकी रक्षा करता है, परन्तु जीव उस शरीर को भोगता है, अर्थात् जीव तो इस वृक्ष का फल खाता है, परन्तु ईश्वर नहीं खाता। किस तरह? देखिए, ईश्वर ने मेरी आँख बनाई। अपने लिए नहीं, किन्तु मेरे लिए। वह मेरी आँख को बनाता है, परन्तु उसके द्वारा देखता नहीं। मैं वनाता नहीं, परन्तु उससे लाभ उठाता हूँ। कानों का बनानेवाला ईश्वर है, परन्तु कानों से सुननेवाला मैं हूँ। रसना का बनानेवाला ईश्वर है, परन्तु रसना से खट्टा-मिट्ठा चखनेवाला मैं हूँ। इसी प्रकार संसार के अन्य सभी पदार्थ हैं। परमात्मा ने सूर्य को इसलिए बनाया कि मैं उसके प्रकाश में देख सकूँ। यदि सूर्य न होता तो मैं कैसे देख सकता। आँखें होते हुये भी अन्धा था, परन्तु इस सूर्य से ईश्वर का अपना कोई लाभ नहीं। वह बनाने और रक्षा करनेवाला है उसका भोगनेवाला नहीं॥ १॥

एक ही वृक्ष पर बैठा हुआ पुरुष परवश हुआ और मोह में फँसा हुआ दुःखी होता है, परन्तु जब योग आदि शुभ कर्म के योग से इस शरीर से भिन्न स्वामी को और उसकी महिमा को देखता है तो उसका दुःख दूर हो जाता है॥ २॥

यह जीव इस शरीर के भोगों को भोगता हुआ अपने सखा ईश्वर को भूल जाता है और शरीर के भोग उसको अपना दास बना लेते हैं। विषय-भोग में फँसा हुआ वह अपने स्वरूप को भी भूल जाता है और अनेक प्रकार के दुःख उठाता है। जब हम आँखों से किसी अच्छे रूप को देखते हैं तो उस पर मोहित

हो जाते हैं। उस समय हमको ईश्वर याद नहीं रहता। हम उस विषय में फँस जाते हैं। पहले पहल तो उस विषय में हमें आनन्द आता है। हम समझते हैं कि ओहो! यह वस्तु कैसी अच्छी है। जी चाहता है कि इसी रूप को देखते रहो, परन्तु ज्यों-ज्यों हमारी प्रवृत्ति अधिक होती जाती है हम इस विषय के आधीन हो जाते हैं और उससे छुटकारा मिलना हमारे लिए कठिन होता जाता है। यदि वह विषय हमको नहीं मिलता तो हम व्याकुल हो उठते हैं और अगर मिलता भी है तो भी उसे अधिक देर तक भोग नहीं सकते। न विषय हमको छोड़ता है न हम विषय को। यही दुःख का कारण है, परन्तु जब किसी सन्त और आचार्य के सदुपदेशों से हमको यह ज्ञान हो जाता है कि इसी शरीर के भीतर हमारा परम सखा परमात्मा भी मौजूद है जो इस प्रकार के विषयों से बाहर है और जिसकी महिमा अपार है तो हमारा मोह दूर हो जाता है और हम अपने आपको और ईश्वर को दोनों को देखने लगते हैं। ईश्वर की ओर लौ लगाते ही सांसारिक विषय हमको छोड़कर भाग जाते हैं जैसे सूर्य का प्रकाश होते ही अन्धकार के गण भाग जाते हैं॥ २ ॥

जिस व्यापक अविनाशी सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में सब विद्वान् और पृथ्वी सूर्यादि सब लोक स्थित हैं, जिसमें सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है जो उस ब्रह्म को नहीं जानता उसको वेदों के पठन-पाठन से क्या लाभ प्राप्त हो सकता है। जो वेदों को पढ़कर धर्मात्मा योगी होकर उस ब्रह्म को जानते हैं वे सब परमेश्वर में स्थित होकर मुक्ति रूपी परमानन्द को प्राप्त होते हैं॥ ३ ॥

इस मन्त्र में बताया गया है कि सब वेदों का यही तात्पर्य

है कि मनुष्य ईश्वर को पहचाने। वह ईश्वर समस्त जगत् में इस प्रकार ओत् प्रोत है जैसे आकाश! जिस प्रकार आकाश से कोई स्थान खाली नहीं। वह तो आकाश से भी सूक्ष्म, आकाश का भी आकाश, सभी में रमा हुआ है। जो वेद को तो पढ़ता है, परन्तु ईश्वर को नहीं पहचानता उसको वेद पढ़ने से कोई लाभ नहीं पहुँचता। जैसे गुड़ गुड़ कहने से मुँह मीठा नहीं होता किन्तु गुड़ खाने से ही मुँह मीठा होता है इसी प्रकार बहुत-से वेदों के पण्डित वेद पढ़ते हुये भी ईश्वर को न पहचान कर अपने विद्या के दम्भ में जीवन को व्यर्थ खोते हैं, परन्तु जिन्होंने ईश्वर को पहचाना वह आनन्द को पाकर मुक्ति का लाभ करते हैं॥ ३ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद आदि छन्द, ब्रह्म-यज्ञ, देव-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, बलिवैश्वदेव-यज्ञ, अतिथि-यज्ञ आदि अनेक प्रकार के यज्ञ, ज्योतिष्टोम याग आदि क्रतु अनेक प्रकार के व्रत, भूत, भविष्य और वर्तमान यह तीनों काल और अन्य भिन्न-भिन्न बातें जिनका वेदों में प्रतिपादन किया गया है। इन सबसे ही सर्वज्ञ ईश्वर इस सृष्टि को रचता है, अर्थात् यह सब रचना जो हमको इस जगत् में दिखाई दे रही है ईश्वर का ही चमत्कार है, परन्तु जीव अपने अज्ञानवश इस संसार के झमेलों में फँसा हुआ ईश्वर को भूल गया है इसलिए अनेक कष्ट उठाता है॥ ४ ॥

अब माया क्या है इसको स्पष्ट करते हैं। प्रकृति या प्रधान जो इस जगत का उपादान कारण है उसको 'माया' कहा गया है। प्रत्येक पदार्थ के तीन कारण होते हैं। एक निमित्त कारण,

दूसरा उपादान कारण और तीसरा साधारण कारण। दृष्टान्त के लिए घड़े को लीजिए। मिट्टी उपादान कारण है, क्योंकि मिट्टी ही गूँधकर घड़ा का रूप हो जाती है। कुम्हार निमित्त कारण है, क्योंकि वह घड़े को अपने ज्ञान से बनाता है। चाक आदि साधारण कारण हैं। इसी प्रकार जगत् का उपादान कारण 'माया' अर्थात् 'प्रकृति' है। उसी को माया नाम से पुकारा गया है और मायी अर्थात् ज्ञानपूर्वक संसार को बनानेवाला महेश्वर या ब्रह्म है। निरुक्त में 'माया' का अर्थ प्रज्ञा किया गया है। इसलिए जो प्रज्ञा से युक्त है वह इसी का अवयव रूप है, अर्थात् ईश्वर सब सृष्टि में ओत-प्रोत हैं॥५॥

वह ईश्वर एक है, परन्तु एक-एक योनि का अधिष्ठाता है, अर्थात् कोई योनि उससे खाली नहीं है। वह सर्वव्यापक तथा सर्वनियन्ता है। जब प्रलय होती है तो यह सब उसी में लीन हो जाता है और जब प्रलय के उपरान्त फिर सृष्टि होती है तो यह जगत् उसी ब्रह्म के द्वारा फिर जगत् रूप हो जाता है (सं-एति=लय हो जाता है, वि-एति=फिर व्यक्त हो जाता है)। वह ईश अर्थात् सबका स्वामी है। उसी के वश में सब जगत् है। वही वरद है अर्थात् सब प्रकार का वरदान हम उसी से प्राप्त कर सकते हैं। हमको जो कुछ माँगना है वह ईश्वर से ही माँगना चाहिए। ईश्वर से भिन्न और किसी से नहीं। वही 'ईड्य' अर्थात् उपासना के योग्य है। ईश्वर को छोड़कर और किसी की उपासना ठीक नहीं है। इसी ईश्वर को प्राप्त करके लोग अत्यन्त शान्ति को प्राप्त करते हैं। जो ईश्वर को छोड़कर अन्य कल्पित देवी-देवता, भूत, प्रेत, कब्र आदि की पूजा में अपना जीवन

गँवाते हैं उनको शान्ति नहीं मिलती, अपितु उनको नित्य क्लेश ही लगा रहता है॥ ६ ॥

[१०]

कस्मै देवाय हविषा विधेम

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १ ॥

सूक्ष्म ति सूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्त्रष्टारमनेकरूपम्। विश्वस्य एकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥ २ ॥

ए एव काले भुवनस्य गोप्ता, विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढ़। यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशां-च्छिनत्ति॥ ३ ॥

घृतात् परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढ़म्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः॥ ४॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ५ ॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः॥ ६ ॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ ७॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च॥ ८॥

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य

लिङ्गम्। स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥ ९॥

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः देव एकःस्वमावृणोत्। सनो दधात् ब्रह्माप्ययम्॥ १०॥

—श्वेता० उपनिषत्, अ० ४।१३-२०, अ० ६।८-१०

'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। यहाँ 'कस्मै' के दो अर्थ हैं। 'कस्मै' अर्थात् किसके लिए और 'कस्मै' अर्थात् सुख स्वरूप के लिए। प्रश्नवाचक 'किम्' शब्द से चतुर्थी कस्मै बनता है और 'कः' शब्द का अर्थ सुखस्वरूप है। उससे भी 'कस्मै' बनता है। इस वाक्य में प्रश्न भी है और उत्तर भी है। जैसे लोक में किसी से पूछा 'कं बलवन्तं न बाधते शीतम्', अर्थात् कौन ऐसा बलवान है जिसको जाड़ा न लगे। उसका उत्तर उसी वाक्य में दिया 'कम्बलवन्तं न बाधते शीतम्' अर्थात् जिसके पास कम्बल हो उसको जाड़ा नहीं लगता। लोक के इसी वाक्य के समान वेद में वही वाक्य प्रश्न भी है और उत्तर भी, अर्थात् हमको किस देव की उपासना करनी चाहिए? उत्तर मिलता है कि सुख स्वरूप ब्रह्म की उपासना करो, क्योंकि वही सुख का भण्डार है और तुम्हारा उपासना करने का प्रयोजन भी यही है कि सुख मिले।

अब मन्त्र का अर्थ करते हैं। सुख स्वरूप ब्रह्म जिसकी हमको श्रद्धापूर्वक उपासना करनी चाहिए कैसा है? '**देवानामधिपः**'। देवों का स्वामी सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाश वाले पदार्थों का नाम देव है और आँख, कान आदि इन्द्रियों का नाम भी देव है, ईश्वर इन दोनों प्रकार के देवों का स्वामी है। सूर्यादि

लोक उसी ब्रह्म के सहारे गतिवान हो रहे हैं और आँख, कान आदि की शक्ति भी ब्रह्म से ही प्राप्त हुई है। केन-उपनिषत् में कहा है कि—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

अर्थात् वह कान का कान, मन का मन, वाणी की वाणी और प्राण का प्राण है। वहीं आँख की भी आँख है। विद्वान् लोग इसी को पहचानकर मृत्यु के पश्चात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

वही ईश्वर दुपायों और चौपायों अर्थात् मनुष्य तथा पशु-पक्षी सभी का स्वामी है। उसी की उपासना करनी योग्य है॥ १॥

वह ईश्वर सूक्ष्म है। इस हड्डी, रक्त, मांस के बने लोथड़े के भीतर व्यापक है, परन्तु दीखता नहीं। इतना सूक्ष्म है कि हाथी के शरीर में भी है और छोटे-से-छोटे उस कृमि के शरीर में भी है जिसको हम लोग दूरबीन से भी कठिनाई से देख पाते हैं। यदि ईश्वर साकार या मोटा होता तो छोटे-से-छोटे शरीर के भीतर कैसे व्यापक होता? वही विश्व का रचयिता है। उसी ने अनेक रूप वाले पदार्थ बनायें हैं। जिस प्रकार बढ़ई अपने ज्ञान का प्रकाश मेज़, कुर्सी आदि अनेक पदार्थ बनाकर करता है उसी प्रकार ईश्वर के क्रियाचातुर्य का प्रकाश संसार के अनेक पदार्थ बनाकर करता है। वह सारे संसार को परिवेष्टित अर्थात् घेरे हुए हैं। वह सबके भीतर भी है और सबके बाहर भी। यदि भीतर न होता तो चीज़ों को कैसे बनाता और यदि बाहर से न घेरता तो उनको कैसे वश में रखता? उसी कल्याण स्वरूप शिव

अर्थात् प्रभु को जानकर मनुष्य अत्यन्त शान्ति को प्राप्त करता है॥ २ ॥

वही तीनों कालों में सृष्टि का गोप्ता (रक्षक) है। सबका स्वामी है और सबके भीतर छिपा हुआ है। ब्रह्मर्षि और विद्वान् उसी से अपना सम्बन्ध रखते हैं। उसी को जानकर मनुष्य मौत के जाल को काट सकता है॥ ३ ॥

जैसे घी से परम सूक्ष्म उसका सार होता है जो घी में छिपा रहता है और दीखता नहीं। उसी प्रकार यह ब्रह्म भी अति सूक्ष्म है और सबमें समाया हुआ है। वही एक सब संसार को ढके हुए है, क्योंकि संसार अन्त वाला है और ईश्वर अनन्त है। उसी को जानकर सब प्रकार के बन्धनों से छुटकारा मिल सकता है॥ ४ ॥

वही देव विश्वकर्मा अर्थात् सब पदार्थों का बनाने वाला है। वही महान् आत्मा है। उससे बड़ा कोई नहीं। वह सबके हृदय के भीतर व्यापक है। जो विद्वान् लोग उसको हृदय, मन तथा बुद्धि से जानते हैं वही अमर हो सकते हैं॥ ५ ॥

कोई उसको न ऊपर से पकड़ सकता है न नीचे से, क्योंकि वह सीमित नहीं, किन्तु अनन्त है, उसकी कोई प्रतिमा नहीं है, अर्थात् कोई उसकी मूर्त्ति नहीं बना सकता। उसकी शक्ल किसी शक्ल से मिलती नहीं, क्योंकि वह निराकार है, उसकी माप-तोल भी किसी प्रकार नहीं हो सकती। वही सबसे अधिक यशस्वी है, क्योंकि संसार में जो कुछ भरा है सब उसी का है॥ ६ ॥

इसके स्वरूप को आप ऐसे पदार्थों में नहीं देख सकते जो

आँखों से देखे जाते हैं, कोई उसको आँख से नहीं देख सकता, वह काला, पीला, लाल आदि नहीं है। न मोटा या पतला है। वह हृदय के भीतर व्यापक है, उसको बुद्धि के द्वारा ही जान सकते हैं। उसको जानकर लोग अमर हो सकते हैं॥ ७ ॥

उसको कोई कार्य नहीं है, अर्थात् जैसे मिट्टी अपना रूप बदलकर घड़ा रूप हो जाता है उसी प्रकार यह सृष्टि ईश्वर का कार्य नहीं है, ईश्वर निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं, उपादान कारण वही होता है जो परिवर्तनशील हो। जो अखण्ड, एकरस है, बदलता नहीं वह किसी वस्तु का उपादान कारण हो ही नहीं सकता। उसका करण अर्थात् उपकरण भी कोई नहीं, जैसे कुम्हार चाक से घड़ा बनाता है उसी प्रकार ईश्वर को किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं, क्योंकि मिट्टी में व्यापक न होने के कारण कुम्हार को तो चाक आदि उपकरणों की आवश्यकता होती है, परन्तु ईश्वर को व्यापक होने के कारण किसी चीज की आवश्यकता नहीं होती। न कोई उसके बराबर है न बड़ा। उसी की बहुत बड़ी और अनन्त शक्ति अनेक रूपों में विद्यमान हो रही है। उसका ज्ञान, उसका बल और उसकी क्रिया स्वाभाविक है, अर्थात् उसने इनको किसी दूसरे से प्राप्त नहीं किया॥ ८ ॥

लोक में उसका कोई पति या स्वामी नहीं है। न कोई उसको अपने वश में रख सकता है। किसी वस्तु का उस पर प्रभाव नहीं पड़ सकता। उसका 'लिङ्ग' अर्थात् चिह्न भी कोई नहीं है, अर्थात् कोई उसकी प्रतीक नहीं बन सकती। वह सबका कारण है और सब कारणों के स्वामियों का भी स्वामी है, न कोई उसका

बनाने वाला है न स्वामी॥ ९॥

जैसे मकड़ी अपने शरीर के भीतर से जाला पूर कर स्वयं अपने को ढक लेती है उसी प्रकार ईश्वर भी "**प्रधानजैः तन्तुभिः**" अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न हुए पदार्थों द्वारा अपने को स्वभाव से ही ढक लेता है, मकड़ी चेतन है। उसका शरीर जड़ है। चेतन मकड़ी अपने जड़ शरीर में से जाला पूरती है। इसी प्रकार चेतन ईश्वर जड़ प्रकृति में से जगत् को उत्पन्न करके उसमें व्यापक रहता है, अर्थात् वह जगत् को बनाकर कहीं अलग नहीं जा बैठता। वह सदा उसमें व्यापक रहता है। यह जगत् का निर्माण ईश्वर की स्वाभाविक क्रिया है। उसको जगत् के बनाने में कोई कष्ट नहीं करना पड़ता। वही ईश्वर हमको शान्ति और एक-रसता प्रदान करे॥ १०॥

[११]

निराकार ईश्वर

अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यति अचक्षुः स शृणोति अकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥ १॥

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥ २॥

—श्वेताश्वतर ३। ११, २०

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा अरसं नित्यम् अ गन्धवच्च यत्। अनादि अनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन् मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥ ३॥ —कठ० १-३-१५

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपं बहिश्च॥ ४॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति रूपं बहिश्च॥ ५॥
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षूर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य दोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्यः॥ ६॥
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ ७॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ ८॥

—कठ० २-५-९-१३

प्रत्येक वस्तु का ज्ञान करने के लिए दो साधन हैं, उसमें जो गुण हैं उनका वर्णन किया जाए और जो गुण नहीं हैं उनका भी वर्णन किया जाए। उपस्थित गुणों का वर्णन करने को सगुण उपासना कहते हैं और अनुपस्थित गुणों का वर्णन करने को निर्गुण उपासना कहते हैं, जब तक सगुण और निर्गुण दोनों का मेल नहीं होता तब तक किसी वस्तु का सम्यक् ज्ञान होना असम्भव है। सगुण उपासना विस्तार को बताती है और निर्गुण सीमा को स्थापित करती है। सगुण ही सगुण उपासना से अतिव्याप्ति दोष आता है और निर्गुण ही निर्गुण उपासना से अव्याप्ति आता है। कल्पना कीजिए कि बर्फ़ का ज्ञान प्राप्त करना है। बर्फ़ में एक गुण है सफ़ेदी, कहा जाए कि बर्फ़ सफ़ेद होती है तो यह सगुण उपासना होगी, परन्तु सफ़ेदी तो राजहंस के पङ्खों में भी पाई जाती है। इसलिए इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है, क्योंकि जो लक्षण बर्फ़ के किये गये वह राजहंस के

पङ्क, चूना आदि सभी पदार्थों में लागू हो जाते हैं, परन्तु जब कहा जाए कि जल का वह जमा हुआ रूप बर्फ़ है, जिसमें से उष्णता सर्वथा निकाल ली गई हो, तो यह निर्गुण उपासना हुई, अर्थात् उसने बर्फ़ के लक्षण को सीमित कर दिया। गधा एक पशु है जिसके सिर पर सींग नहीं होते। उसमें पशुत्व सगुण है और सींगों का न होना निर्गुण है। इसी उपमा को बढ़ाकर समझने से यह बात समझ में आ सकती है कि सगुण और निर्गुण दोनों का मेल होना चाहिए।

ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह दोनों बातें आवश्यक हैं, अर्थात् सगुण और निर्गुण दोनों का वर्णन होना चाहिए। उपनिषदों और वेदों में सगुण और निर्गुण दोनों का वर्णन है। यहाँ एक बात याद रखनी चाहिए कि सगुण का साकार नहीं है और न निर्गुण का निराकार। आकार तो एक गुण है जो साकार वस्तुओं में पाया जाता है और निराकार में नहीं। क़लम साकार है और ज्ञान निराकार है। ईश्वर में साकार गुण का सर्वथा अभाव है, क्योंकि साकारता केवल सान्त और सीमित वस्तुओं का ही गुण हो सकती है।

यहाँ जो उपनिषदों के आठ मन्त्र दिये जाते हैं उनके अर्थों पर विचार कीजिए तो पता चल जाएगा कि सगुण और निर्गुण दोनों का कैसा अच्छा समावेश किया गया है—

ईश्वर के हाथ नहीं, परन्तु पकड़ सकता है। पैर नहीं परन्तु गति कर सकता है। आँख नहीं पर देखता है। कान नहीं पर सुनता है। जो कुछ जानने योग्य है वह सब उसको मालूम है, परन्तु उसके पास ज्ञान प्राप्त करने के उपकरण नहीं हैं। मनुष्य आँख, कान, नाक आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है,

परन्तु ईश्वर के पास यह उपकरण नहीं हैं। उसको इन उपकरणों की आवश्यकता ही नहीं। मनुष्य के जब आँख न थी तब उसको रूप का ज्ञान न था। परन्तु ईश्वर तो आँख, कान, नाक आदि गोलक बनाने से पूर्व भी उपस्थित था। वह अग्रय अर्थात् पहले ही था। उसको महान् पुरुष कहते हैं, क्योंकि वह समस्त संसार के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थों में व्यापक है॥ १ ॥

वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म है और बड़े-से-बड़ा है। प्राणियों के हृदय के भीतर भी व्यापक है। वह अक्रतु अर्थात् विषय भोगादि के सङ्कल्प से रहित है। जो इस महान् ईश्वर की कृपा के पात्र होकर उसकी महिमा को जान लेते हैं वही धन्य हैं और वही शोक से मुक्त हो जाते हैं॥ २ ॥

वह शब्द नहीं है। कान मूँदकर जो शब्द सुनाई देता है और जिसे लोग ईश्वर समझ लेते हैं वह शब्द है ईश्वर नहीं। इसी प्रकार वह स्पर्श भी नहीं है। न रूप है। आँखें मूँदने से जो प्रकाश दीखता है उसको भी ईश्वर समंझना भूल है। वह तो प्राकृतिक प्रकाश है। ईश्वर नहीं। वह अव्यय है बदलता नहीं। एकरस रहता है उसमे कमी या बढ़ती नहीं होती। वह रस भी नहीं है। वह नित्य है। गन्ध भी नहीं है। अनादि है अनन्त है। सबके परे है। ध्रुव अर्थात् निश्चल है। उसको जानकर मृत्यु के जाल से छूट सकते हैं॥ ३ ॥

जैसे आग प्रत्येक वस्तु में व्यापक होकर उसी का रूप हो जाती है उसी प्रकार यह परमात्मा सब में व्यापक होकर सबका रूप बना हुआ है। एक-डेढ़ इंच लम्बी और पतली-पतली दियासलाई में आग है, परन्तु उस आग की लम्बाई डेढ़ इंच नहीं है। वह आग तो उसमें व्यापक है। इसी प्रकार ईश्वर का

कोई अपना आकार नहीं है। व्याप्य वस्तुओं का आकार है॥ ४॥

यही बात वायु के लिए भी कही जाती है। वायु सबमें है। हमारे शरीरों के बाहर भी और भीतर भी। इसी प्रकार ईश्वर की व्यापकता को समझना चाहिए॥ ५॥

अब प्रश्न होता है कि जब ईश्वर सबमें व्यापक है तो उसमें व्याप्य पदार्थों के दोष क्यों नहीं लगते? गन्दे पदार्थों में व्यापक है तो गन्दा क्यों नहीं। बुरे आदमियों के हृदयों में है फिर बुरा क्यों नहीं? उपनिषद् इस शङ्का का समाधान सूर्य की उपमा से करती है। सूर्य सबकी आँख है, परन्तु आँख के पीड़ा आदि दोष सूर्य में नहीं पाये जाते। इसी प्रकार सब संसार में व्यापक होते हुए भी ईश्वर बाहर के दोषों से मुक्त है। ईश्वर-भक्त के लिए इस बात का जानना आवश्यक है अन्यथा वह धूर्तों के पञ्जे में फँसकर हानि उठा सकता है॥ ६॥

वह ईश्वर एक है। वह एक चीज़ से अनेक चीज़ें बना देता है। जैसे मिट्टी के पदार्थ है उससे नाँद, शकोरे, घड़े, खिलौने आदि अनेक चीज़ें बन जाती हैं। सोना एक पदार्थ है, परन्तु सुनार कङ्गन, आरसी, अंगूठी, हार आदि अनेक आभूषण बना देता है। इसी प्रकार ईश्वर एक जड़ प्रकृति से संसार के विचित्र-विचित्र पदार्थ बना देता है। जो लोग इस रहस्य को समझ लेते हैं वही नित्य आनन्द को प्राप्त कर लेते हैं। अन्य लोग नहीं॥ ७॥

वह ईश्वर नित्यों में नित्य है। चेतनों में चेतन है। बहुतों में एक है। जीव भी नित्य हैं। चेतन हैं और ईश्वर भी नित्य है और चित्स्वरूप है, परन्तु ईश्वर एक है और जीव बहुत-से हैं। ईश्वर अनन्त है और जीव अल्प है। जीव इच्छाएँ करता है, परन्तु ईश्वर उन इच्छाओं का विधान करता है। जो बुद्धिमान

लोग उस आत्मा के भीतर व्यापक ब्रह्म का अनुभव कर लेते हैं उनको सदा रहने वाली शान्ति मिल जाती है। जो ईश्वर से विमुख रहते हैं उनमें विषयासक्ति बढ़ जाती है और वह सर्वदा अशान्ति के सागर में डूबे रहते हैं॥ ८॥

[१२]

तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति। स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ १॥ —अथर्व० १०।८।१

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ २॥

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्रे आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३॥

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोभवन्। दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ४॥

—अथर्ववेद १०।७।३२-३४

अथर्ववेद के इन चार मन्त्रों में मनुष्य के शरीर और जगत् रूपी शरीर का सादृश्य दिखाया गया है। कहावत है कि जो कुछ पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है, अर्थात् हमारा शरीर ब्रह्माण्ड का अनुरूप है। यह पिण्ड जड़ है, परन्तु जीवात्मा के कारण वह चेतन के समान दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार समस्त जगत् परमात्मा की चेतनता से चेतन हो रहा है। जिस प्रकार आँखों का खुलना मिंचना, श्वास और प्रश्वास चेतन जीव के अस्तित्व का द्योतक है इसी प्रकार पानी का बहना और वायु का चलना

ईश्वर की चेतन सत्ता को प्रकट करता है। मन्त्रों के अर्थों पर विचार कीजिए।

उस परब्रह्म को नमस्कार हो जो सबसे बड़ा है! कैसा वह ब्रह्म? जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों के ऊपर है और जो स्वयं सुखस्वरूप है। संसार के पदार्थों पर काल का प्रभाव पड़ता है। वह भूतकाल में कुछ और थे, इस समय कुछ और हैं और भविष्य में कुछ और हो जाएँगे। यदि कोई चीज़ परिवर्तनशील न होती तो काल के तीन विभाग अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य भी नहीं होते, परन्तु ईश्वर इन तीन कालों से अतीत है। वह बदलता नहीं। न किसी ऐसी दशा में आता है जो बदल सके। उसका केवल स्वरूप सुख है! जीव शरीरस्थ होने से जागृत स्वप्न सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में आता-जाता रहता है। इसीलिए कभी दुःखी होता है कभी सुखी। उसपर काल का प्रभाव पड़ता है। ईश्वर कालातीत होने से सदा आनन्द स्वरूप है॥ १ ॥

उस परब्रह्म को नमस्कार हो जिसकी सृष्टि में भूमि पैर के समान है, अन्तरिक्ष उदर के समान और द्यौलोक सिर के समान॥ ३ ॥

उस परब्रह्म को नमस्कार हो जिसकी सृष्टि में वायु प्राण और अपान के समान है और प्रकाश की किरणें आँख के समान हैं। जिसकी सृष्टि में दिशाएँ ज्ञान देने वाली है, अर्थात् दिशाओं से वस्तुओं का सापेक्षित ज्ञान होता है। (Directions direct or point out. They are pointers. They help in locating the place of things in the universe.)

चतुर्थ आह्निक—धर्म के तीन स्कन्ध

[१३]

यज्ञ

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनंदानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्य कुलवासी तृतीयः। अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्वएते पुण्यलोकाभवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति॥

—छान्दोग्य २।२३।१

धर्म के तीन स्कन्ध (तने) हैं—पहले स्कन्ध की तीन शाखाएँ हैं, एक यज्ञ, दूसरा अध्ययन और तीसरा दान। दूसरा स्कन्ध तप है, तीसरा स्कन्ध है आचार्य कुल में ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए रहना। आचार्यकुल में रहकर घोर तपस्या करते हुए अपने आपको दमन करना आवश्यक है। यह सब पुण्य अवस्थाएँ हैं। ब्रह्म में स्थित होना ही अमृतत्व है।

पहले स्कन्ध की तीन शाखाएँ बताई गई—(१) यज्ञ, (२) अध्ययन, (३) दान। यह तीनों मिलकर जीवन के साधारण कर्त्तव्य को बताते हैं।

यज्ञ के सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद् में उपदेश है—

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने। तदाज्यभागावन्तेरणाहुतीः प्रतिपादयेत् श्रद्धया हुतम्॥ १॥

यस्य अग्निहोत्रं अदर्शपौर्णमासं अचातुर्मास्यं अनाग्रयणं अतिथि वर्जितं च। अहुतं अवैश्वदेवं अविधिना हुतं आसप्तमां-

स्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥ २ ॥

काली कराली च मनो जवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्वरूची च देवी तोलायमाना इति सप्त-जिह्वः ॥ ३ ॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुत यो ह्यादददायन्। तन् नयन्ति एताः सूर्यस्यरश्मयो यत्र देवानां पतिरेको-धिवासः ॥ ४ ॥

एहिएहि इति तं आहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचंअभिवदन्त्यः अर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥ ५ ॥ —मुण्डक उपनिषद् १।२।२-६

जब अग्नि भली-भाँति जलाई जा चुके और उसमें लौ उठने लगे तो घी सामग्री आदि की आहुतियाँ श्रद्धापूर्वक देनी चाहिएँ, क्योंकि हवन में जलाई हुई अग्नि 'हव्य वाहन' है। अर्थात् जो हवि यज्ञ में डाला जाता है उसको अग्नि अत्यन्त सूक्ष्म करके वायुमण्डल में फैला देता है। इससे वायु शुद्ध होकर रोग के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और स्वास्थ्य को लाभ पहुँचता है। यज्ञ परोपकार का सुलभ और सहज साधन है ॥ १ ॥

यज्ञ कई प्रकार का है—प्रथम अग्निहोत्र जो प्रत्येक मनुष्य को नित्य सायं-प्रातः करना चाहिए। दूसरा दर्श-पौर्णमास-इष्टियाँ। दर्श-इष्टि अमावस्या को की जाती है और पौर्णमास इष्टि पौर्णमासी को। तीसरी चातुर्मास्य इष्टि जो वर्षा ऋतु के चार मास में की जाती है। चौथी आग्रायण-इष्टि। पाँचवाँ अतिथि यज्ञ। छठा वैश्वदेव यज्ञ। जो गृहस्थ इन यज्ञों को नहीं करता या विधिपूर्वक नहीं कराता उसके सात लोक नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

यह सात लोक क्या हैं, आगे बताएँगे।

अग्नि को सप्त जिह्व अर्थात् सात जीभों वाली कहा है— काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सूधूम्रपर्णा, स्फूलिङ्गिनी, विश्वरूची ॥ ३ ॥

जो लोग इस प्रकार प्रदीप्त अग्नि में आहुतियाँ देते हैं उनकी आहुतियों को सूर्य की किरणें उस स्थान पर पहुँचा देती हैं जहाँ देवों के पति अर्थात् ब्रह्म का निवास है ॥ ४ ॥

यह आहुतियाँ सूर्य की किरणों के साथ चलती हुईं मानो यजमान को बड़ी मीठी बोली में पुण्यलोक की ओर बुलाती हैं। तात्पर्य यह है कि नित्य श्रद्धा के साथ यज्ञ करने से जीवन पवित्र होता है और परलोक बनता है ॥ ५ ॥

इन मन्त्रों में यज्ञ के न करने की हानियाँ और यज्ञ करने के लाभ लोभायमान भाषा में वर्णन किये हैं। प्रथम तो कहा गया है कि जिनके घर में यज्ञ नहीं होता उनके सात लोक नष्ट हो जाते हैं। सात लोक क्या हैं? भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्। सन्ध्या के मन्त्रों में शरीर के सात अङ्गों का वर्णन इन शब्दों के साथ आता है—

ओ३म् भूः पुनातु शिरसि।
ओ३म् भुवः पुनातु नेत्रयोः।
ओ३म् स्वः पुनातु कण्ठे।
ओ३म् महः पुनातु हृदये।
ओ३म् जनः पुनातु नाभ्याम्।
ओ३म् तपः पुनातु पादयोः।
ओ३म् सत्यम् पुनातु पुनश्शिरसि।
ओम् खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र।

हमारे शरीरी के सात स्थान ही हमारे आन्तरिक लोक हैं। इनकी शुद्धि ही हमारे धार्मिक कर्मों का मुख्य उद्देश्य है। अतः कहा गया है कि यज्ञ करने वाले के शरीर के इन आन्तरिक भागों की शुद्धि होती है और जो यज्ञ नहीं करते उनके सात लोकों को हानि पहुँचाती है।

यज्ञ में दी हुई आहुतियाँ, मनुष्य को पुण्यलोक की ओर बुलाती हैं। "आओ, आओ, चले आओ।" इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ से मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण में देवों के पति अर्थात् परमात्मा का अनुभव होने लगता है। भिन्न-भिन्न इन्द्रियों का नाम देव है। इन्द्रियों का पति एक प्रकार से तो जीव है और दूसरे प्रकार से ब्रह्म। जीव इसलिए पति है कि वह इनको अपनी इच्छा द्वारा चलता है और ब्रह्म इसलिए पति है कि इन्द्रियों की वास्तविक शक्ति उसी स्रोत से आती है। इसलिए तो केन-उपनिषत् में कहा है—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥ १॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचꣳस उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरति मुच्य धीराः प्रेत्य अस्माल् लोकाद् अमृता भवन्ति॥ २॥ —केन-उपनिषत् १।१-२

मन किसकी प्रेरणा से प्रेरित होकर अपना काम करता है। प्राण को अपने काम में सबसे पहले कौन जुटाता है? किसकी प्रेरणा से प्रेरित होकर वाणी बोली जाती है? आँख और कान को कौन अपने-अपने काम में लगाता है?॥ १॥

अब इसका उत्तर देते हैं। वास्तविक बात यह है कि जो शक्तियों का स्रोत है उसी से शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। यदि

बिजली को लेना हो तो बिजलीघर जाइए, क्योंकि वही बिजली का स्रोत है। जल लेना हो तो जल के स्रोत की खोज करनी चाहिए। इसी प्रकार यदि यह पूछना हो कि आँख, नाक आदि इन्द्रियों को कहाँ से प्रेरणा होती है तो उपनिषत् कहती है कि इन्द्रियों को कहाँ से प्रेरणा होती है तो उपनिषत् कहती है कि इन्द्रियों की शक्ति का स्रोत ही इन्द्रियों को प्रेरणा दे सकता है, अर्थात् जो आँख की आँख, कान का कान, प्राण का प्राण और मन का मन है। वह एक सीमा तक जीव भी है और मुख्यत: ब्रह्म है। इन्द्रियों का पति होने के कारण इसका नाम इन्द्र है और इन्द्रियों को देव भी कहते हैं, अत: इनको 'दोनों का पति' भी कहा गया। उपनिषत् कहती है कि जो लोग इन्द्रियों के व्यापार को केवल इन्द्रियों का व्यापार ही समझते हैं वे तो लोकायत अर्थात् प्रकृतिवादियो (रूड्डहृद्गह्द्बड्डद्यद्बह्यहृह्य) के समान लोक के झगड़ों में ही फँसे रह जाते हैं, परन्तु जो 'अतिमुच्य' अर्थात् अपने विचारों को स्थूल जगत् से आगे सूक्ष्म जगत् तक ले जाते हैं वे ही अमृत को प्राप्त होते हैं। मुण्डकोपनिषत् में यज्ञ को देवपति इन्द्र की प्राप्ति का इसीलिए साधन बताया गया कि यज्ञ से मन सूक्ष्म होता है और सूक्ष्म मन ही से सूक्ष्म विचार उठते हैं। जो लोग केवल खाने-पीने और इन्द्रियों के सुख में लिप्त रहते हैं वह 'मांसल-प्रज्ञ' अर्थात् मोटी बुद्धि वाले हो जाते हैं। छान्दोग्य-उपनिषत् में कहा है—

आहारशुद्धौ सत्व-शुद्धि सत्वशुद्धौ ध्रुवा-स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥ —छान्दोग्य-उपनिषत् ७।२६।२

भोजन शुद्ध हो तो मन शुद्ध होता है। मन शुद्ध हो तो निश्चय ही स्मृति शुद्ध हो जाती है और स्मृति शुद्ध होने से सन्देह निवृत

हो जाते हैं। हवन में डाले हुए खाद्य-पदार्थ अति सूक्ष्म होने से अत्यन्त लाभकारी होते हैं। जितना लाभ बीस दिन में बीस छटांक घी खाने से होगा उतना एक दिन में आधी छटांक घी जलाने से हो जाता है। जब मन शुद्ध हो गया और सन्देह निवृत हो गये तो मनुष्य अपने-आप का भी अनुभव करता है और अपने में स्थित ब्रह्म का भी।

यज्ञ के लाभ समासरूप से नीचे के मन्त्र में दिये गये हैं—

ओ३म् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेन इध्यस्व वर्धस्व च इद्धवर्धय च अस्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन अन्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ —आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१०।१२

इस मन्त्र में कहा गया है कि हे अग्नि तू प्रज्वलित होकर हमको प्रज्वलित कर। तू बढ़ और हमको भी बढ़ा। किन चीजों से? **प्रजया** अर्थात् सन्तान से, **पशुभिः** अर्थात् पशुओं से, **ब्रह्मवर्चस** अर्थात् आत्मज्ञान और आत्मशक्ति से, **अन्नाद्येन** अर्थात् खाद्य-पदार्थों से। यज्ञ करने से इन चारों चीजों की प्राप्ति हो जाती है, जो सांसारिक और पारलौकिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं।

[१४]

अध्ययन

धर्म के प्रथम स्कन्ध की दूसरी शाखा अध्ययन है। यह भी धर्म का मुख्य अङ्ग है। मनुष्य अपने सीमित जीवन में सीमित अनुभव ही कर सकता है। यदि जीवन के पैतृकि अनुभव प्राप्त न हों तो मानव जाति के ज्ञानकोष में कोई वृद्धि नहीं हो सकती।

इसी को शास्त्रों ने ऋषि ऋण कहा है, अर्थात् आदि सृष्टि से लेकर आज तक विद्वान् लोग अपने-अपने अनुभवों का कोष हम तक छोड़ गये हैं। हर एक पीढ़ी पहली पीढ़ी के ज्ञानकोष में कुछ-न-कुछ अधिक करती है। यह तभी हो सकता है जब हम अध्ययन अर्थात् स्वाध्याय को दैनिक कर्त्तव्यों में सम्मिलित कर लेवें। पशुओं में अधिक उन्नति न होने का एकमात्र कारण यह है कि वहाँ पठन-पाठन अध्ययन-अध्यापन की प्रथा नहीं है। तैत्तिरीय-उपनिषत् में शिक्षा का विषय मुख्यतया प्रतिपादित है। उसमें स्वाध्याय के विषय में इस प्रकार लिखा है—

ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च। तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्याय प्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्याय प्रवचने च। मानुषं च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपो नित्यः पौरूशिष्टः। स्वाध्याय प्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥ —तैत्तिरीय उपनिषत्, शिक्षा—अनुवाक ९

ऋत अर्थात् सृष्टि के नियमों पर विचार करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ। स्वाध्याय कहते हैं स्वयं पढ़ने को और प्रवचन कहते हैं दूसरों को पढ़ाने को। जो ज्ञान ऋषियों तथा पूर्वज विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में दिया है उसकी प्राप्ति करो और फिर उसको दूसरों को पहुँचाओ, परन्तु ऋत अर्थात् सृष्टि के नियमों का निरीक्षण करते रहो। जहाँ कोई कथन सृष्टि-नियम के विरुद्ध

ज्ञात हो उसको न मानो अन्यथा अन्धविश्वास और भ्रान्ति उत्पन्न होकर स्वाध्याय से लाभ न होगा।

सत्य के साथ पढ़ो-पढ़ाओ, अर्थात् पठन-पाठन सत्य की खोज और सत्य के प्रेम के ही कारण होना चाहिए। ऐसा न हो कि सत्य के छिपाने और स्वार्थसिद्ध के लिए पठन-पाठन का प्रयोग किया जाए!

तप करके पढ़ो-पढ़ाओ, अर्थात् तपस्या की वृत्ति धारण करनी चाहिए। सत्य की खोज में और सत्यानुकूल जीवन व्यतीत करने में कष्ट भोगना पड़ता है। जिन लोगों को कष्ट सहने का अभ्यास नहीं होता वह शीघ्र ही सत्य से च्युत होकर विषय भोग में फँस जाते हैं। विद्वान् यदि विषयी हो तो वह अपने लिए भी दुःखदायी है और दूसरों के लिए भी, क्योंकि वह अपने ज्ञान को विषयभोग की सामग्री जुटाने में व्यय करता है।

दम अर्थात् इन्द्रियों को वश में रखते हुए पढ़ो-पढ़ाओ।

शम अर्थात् शान्ति रखते हुए पढ़ो-पढ़ाओ। तुम्हारी विद्या से लोगों को शान्ति और सुख मिलना चाहिए।

अग्रियो पर विचार करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ।

अग्रिहोत्र अर्थात् यज्ञ करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ।

मनुष्यमात्र के कल्याण पर विचार करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ।

प्रजा अर्थात् सर्वसाधारण के हित को दृष्टि में रखते हुए पढ़ो-पढ़ाओ।

प्रजन अर्थात् सन्तान-वृद्धि की समस्याओं पर विचार करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ।

प्रजाति अर्थात् अपनी जाति के हित की कामना से पढ़ो-

पढ़ाओ।

राथीतर आचार्य का मत है कि सत्यभाषण सबसे बड़ी चीज़ है। सत्यभाषण को कभी छोड़ना नहीं चाहिए।

पौरुशिष्ट आचार्य का कथन है कि तप मुख्य है। तप पर बड़ा बल देना चाहिए। मुद्गल आचार्य के शिष्य 'नाक' महोदय स्वाध्याय और प्रवचन पर बहुत बल दिया करते थे। वही तप है वही तप है।

यहाँ स्वाध्याय की महिमा बताई गई है। मनुष्य के नित्य कामों में स्वाध्याय को मुख्य स्थान मिलना चाहिए, परन्तु पुस्तकें उत्तम और उपयोगी होनी चाहिए। जैसे उत्तम भोजन से स्वास्थ्य बनता और विषयुक्त भोजन से बिगड़ता है, इसी प्रकार उत्तम ग्रन्थों के पढ़ने से लाभ और निकृष्ट साहित्य के पढ़ने से हानि होती है। याद रखना चाहिए कि साहित्य भी विषैला हो सकता है। ऐसे साहित्य से बचना चाहिए। यदि रोटी न मिले तो कोई विष नहीं खाता। इसी प्रकार यदि अच्छी पुस्तकें न मिलें तो किसी को दूषित पुस्तकें न पढ़नी चाहिए।

स्वाध्याय में सबसे मुख्य स्थान वेद है। मूल वेदों का पढ़ना सबके लिए कठिन है, अतः यदि उत्तम संग्रह मिल जाए तो प्रतिदिन एक मन्त्र का पाठ अर्थ सहित करना चाहिए। इससे शनैः शनैः आत्मज्ञान में वृद्धि हो सकेगी। अन्य धार्मिक ग्रन्थों को भी पढ़ना चाहिए। गृहस्थी स्त्री-पुरुषों को चाहिए कि घर का कारोबार करते हुए स्वाध्याय करें, अर्थात् अपने कारोबार के समय में से आध घण्टा भी प्रतिदिन निकाल दिया करें तो बहुत कुछ लाभ हो सकता है। स्वाध्याय का अभ्यास डालना

चाहिए और उसमें अनध्याय (नाग़ा) नहीं करना चाहिए। यदि प्रात:काल उठकर ही थोड़ा स्वाध्याय कर लिया जाए तो दिन भर के कामों में सहायता मिल सकती है।

स्वाध्याय में प्रतिनिधित्व नहीं होना चाहिए, अर्थात् यदि शास्त्र का पाठ करना है तो स्वयं करो। पाठ करने के लिए किसी विद्वान् को नौकर मत रक्खो, क्योंकि पाठ करने का वास्तविक लाभ पाठ करने वाले को ही होता है, अन्य दानदाताओं को नहीं। कल्पना कीजिए कि आप किसी विदेशी भाषा को स्वयं न सीखकर अपने धन से किसी दूसरे को सिखवा दो तो उसका ज्ञान तुमको कदापि न हो सकेगा। ऐसा ही मन्त्र-पाठ में समझना चाहिए। बहुत-से लोग स्वयं पाठ नहीं करते। अत: उनको साहित्य से प्रेम नहीं रहता। इस पर ध्यान देना आवश्यक है।

[१५]

धर्म

धर्म के पहले स्कन्ध की तीसरी शाखा दान है। दान से मुख्य तात्पर्य यहाँ धन के दान से है, क्योंकि विद्यादान का उल्लेख तो 'प्रवचन' में आ चुका। उपनिषद् कहती है—

श्रद्धया देयम्॥ १॥
अश्रद्धया देयम्॥ २॥
श्रिया देयम्॥ ३॥
ह्रिया देयम्॥ ४॥
भिया देयम्॥ ५॥
संविदा देयम्॥ ६॥

यहाँ दान देने के लिए छह बातें बताई गई हैं। श्रद्धा से देना चाहिए, अर्थात् यह विश्वास रक्खो कि दान देना महाकर्त्तव्य है। इससे लोक और परलोक दोनों बनते हैं और यदि कभी श्रद्धा में कमी हो और तुम्हारे हृदय में दान के लिए रुचि न हो तो अश्रद्धा होते हुए भी दान दें दो, क्योंकि कभी-कभी चित्त की वृत्तियाँ तामसिक हो जाती हैं और शुभकर्म के करने में जी नहीं लगता। ऐसी अवस्था में अपनी रुचि का सुधार करने के लिए कुछ प्रतीकार होना चाहिए। यदि अश्रद्धा होते हुए भी देते रहोगे तो दान करने का अभ्यास रहेगा और तामसी वृत्तियों का किसी-न-किसी समय निराकरण हो सकेगा।

'श्रिया' अर्थात् सौन्दर्य से देना चाहिए। कुछ लोग दान तो देते हैं, परन्तु बड़ी भद्दी तरह से। वह जिसको दान देते हैं उसको अपमानित भी करते हैं। इससे दान लेने वाले को लज्जा आ जाती हैं और उसका आत्मा दासत्व को प्राप्त हो जाता है।

'ह्रिया' अर्थात् लोक लाज से भी दान करना चाहिए, क्योंकि तुम्हारे धन का जो भाग परोपकार में लग जाए वह अच्छा ही है। जो लोग लोकेषणा से प्रेरित होकर भी संस्थाओं को दान देते हैं उनका दान सतोगुणी न भी हो तो भी न दान देने वालों की अपेक्षा उनका स्थान ऊँचा है।

'भिया' अर्थात् भय से दान दो। याद रक्खो कि न दान देना पाप है। पाप का भल बुरा होगा। पाप के भय से भी बहुत-से पुण्यकार्य होते रहते हैं। इसलिए 'पाप के भय' से भी दान दो।

'संविदा' अर्थात् ज्ञानपूर्वक दान दो। यह अन्त का वाक्य

बहुत आवश्यक है। ज्ञानशून्य दान से लाभ नहीं। कुछ लोग बहुत दान देते हैं, परन्तु दुष्टों को! वे दुष्ट उस दान का प्रयोग बुरी बातों में करते हैं और ऐसे दान से समाज को अत्यन्त हानि होती है। इसलिए विचार कर लेना चाहिए कि किस प्रकार के दान से समाज को अत्यन्त लाभ होगा। उसी बात में दान का आधिक्य होना चाहिए। ऐसी संस्थाओं में दान देना जिससे जाति के ज्ञान और सुख की वृद्धि हो सबसे अच्छा दान है। भूखों को रोटी देने की अपेक्षा ऐसी संस्थाओं में दान दिया जाए जिसके कारण भिखारियों और भूखों की संख्या में न्यूनता हो और भोजन-प्राप्ति के साधन अधिक हों। कहावत है कि 'टुक देवा मरे' और 'सिख देवा जिये'। क्योंकि रोटी से भी तात्कालिक आवश्यकता की ही पूर्त्ति होती है, परन्तु शिक्षा से तो मनुष्य रोटी कमाने के योग्य हो जाता है।

विशेष अवसरों पर गृहस्थियों को चाहिए कि अनाथालयों या दीनों के हस्पतालों में जाकर उनको विशेष भोजन या बच्चों को खिलौने आदि का दान दिया करें। जिससे अनाथों का भी मनोविनोद हो जाए और उनका मानसिक विकास हो सके। ऐसी चीज़ों के लिए भी दान देना आवश्यक है जिनसे जाति की धनराशि या ज्ञानराशि की वृद्धि हो सके। जैसे अज्ञात टापुओं की खोज करना, अज्ञात बातों का अन्वेषण करना या नये-नये आविष्कार करना।

दान का मुख्य लाभ है हृदय की विशालता। जो दान नहीं देते उनका हृदय संकुचित हो जाता है। यदि हम किसी दुखिया की सहायता करते हैं तो हमारा प्रेम का भाव उसके लिए जाग्रत्

होता है और हम ऐसा अनुभव करते हैं मानों अपना स्वत्व (अपनापन) अधिक विशाल हो रहा है।

मनु महाराज का उपदेश है कि प्रत्येक गृहस्थी को आय का दशांश दान में देना चाहिए। यदि प्रत्येक गृहस्थी इतना दान देवे तो जाति के सभी परोपकार के काम सुगमता से चल सकते हैं। याद रखना चाहिए कि यदि आप दान न देंगे तो 'कर' देना पड़ेगा। दान अपनी इच्छा से दिया जाता है और 'कर' राज्य की ज़बरदस्ती से। यदि दान से काम चल जाए तो 'कर' की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो स्कूल राज के धन से चल रहा है वह भी मूलतः आपके ही धन से चलता है, अर्थात् उस 'कर' से जो आप राज को देते हैं, यदि आप पुष्कल दान देकर स्कूल चलाते तो वह दान से चलता और आपको उसका अधिक पुण्य होता।

[१६]

तप और ब्रह्मचर्य

धर्म का दूसरा स्कन्ध तप है। तप का अर्थ है नीच वृत्तियों से लड़ाई करके उनको परास्त करना। मनुष्य में दोनों प्रकार की वृत्तियाँ पाई जाती हैं। एक तो ऊपर को ले जाने वाली और दूसरी नीचे को गिराने वाली। पहली का नाम 'श्रेय' है और दूसरी का 'प्रेय'। कठोपनिषत् कहती है—

अन्यच् छ्रेयो अन्यद् उत एव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषः सिनीतः। तपोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयते अर्थात् य उ प्रेयो व्रणीते॥ १॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयोहि धीरो ऽ भिप्रेयसो वृणीते प्रेयोमन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥ २ ॥

सत्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामानभिध्यायन् नचिकेतोऽ-त्यस्त्राक्षीः। नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तोयस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूचि अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलु-पन्तः॥ ४ ॥

—कठोपनिषत् १।२।१-४

'श्रेय' अर्थात् कल्याणकारी काम और है और 'प्रेय' अर्थात् अच्छा लगने वाला काम और है। धर्मानुष्ठान कल्याणकारी है, परन्तु अच्छा नहीं लगता और विषय-भोग अच्छे लगते हैं, परन्तु हानिकर हैं। दोनों का प्रयोजन भिन्न-भिन्न हैं, अतः जो लोग अपनी इच्छाओं के वश में हो जाते हैं उनका जीवन नष्ट हो जाता है। श्रेय और प्रेय दोनों ही मनुष्य को अपने जाल में फँसाए हुए हैं। जो अपनी बुद्धि को लगाकर श्रेय और प्रेय में भेद नहीं कर सकता वह दुःख उठाता है। जो श्रेय काम को कठिन होते भी करता है वह 'साधु भवति' अर्थात् अन्त में लाभ उठाता है और जो कठिनाईयों से भागकर 'प्रेय' चीज़ों का अवलम्बन करता है वह दुःख उठाता है। परिश्रम करके विद्या पढ़ना श्रेय है और परिश्रम से भागकर खेलकूद करना प्रेय। सभी जानते हैं कि श्रेय लाभकर है और प्रेय हानिकर॥ १ ॥

श्रेय और प्रेय दोनों ही आरम्भ काल से ही मनुष्य के समक्ष उपस्थित होते हैं। श्रेय कहता है मेरी ओर आओ। मैं कठिन

तो प्रतीत होता हूँ, परन्तु अन्त में तुमको सुख होगा। प्रेय कहता है "नहीं, नहीं! क्यों कष्ट सहते हो। खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ, भविष्य की चिन्ता में वर्तमान का त्याग मत करो।" मनुष्य दुविधा में पड़ जाता है। क्या करे, क्या न करे। मनुष्य का समस्त जीवन इसी युद्ध में व्यय होता है, परन्तु जो बुद्धिमान लोग श्रेय और प्रेय में पहचान करके विवेकपूर्वक कार्य करते हैं वह प्रेय को त्यागकर श्रेय का अवलम्बन करते हैं, परन्तु जो मन्दमति और बुद्धिहीन हैं वे दूर की बात को न सोचकर तात्कालिक सुख की इच्छा करते हुए 'प्रेय' का अवलम्बन करते हैं और जीवनभर दुःख उठाते हैं। 'श्रेय' के अवलम्बन में तप की आवश्यकता होती है और तपरहित लोग शीघ्र ही 'प्रेय' के दास हो जाते हैं॥ २ ॥

श्री यमाचार्य कहते हैं—हे नचिकेता! मैंने परीक्षा लेने के लिए तेरे सामने अनेक प्रलोभन रक्खे, परन्तु तूने बुद्धिपूर्वक विचारके 'प्रेय' को छोड़ दिया। तू इस प्रलोभन की जञ्जीर से अलग रहा जिसमें प्रायः बहुत-से लोग डूब जाते हैं॥ ३ ॥

श्रेय और प्रेय एक-दूसरे से सर्वथा विपरीत और दूर हैं। विद्वानों ने परीक्षा करके बताया है कि विद्या क्या है और अविद्या क्या? हे नचिकेता! मैं देखता हूँ कि तुमने विद्या को ग्रहण किया और विषय-भोग के प्रलोभनों से बचे रहे। इससे तुम्हारा कल्याण होगा॥ ४ ॥

यमाचार्य के इस उपदेश में तप का महत्व और तप करने का साधन बताया गया है। विना तप के यज्ञ, अध्ययन और दान जिनका हमने पहले स्कन्ध में उल्लेख किया, निरर्थक से

हैं। संसार में बहुत-से लोग हैं जो बड़े-बड़े यज्ञ करते, बहुत पढ़ते और दान भी बहुत देते हैं, परन्तु श्रेय और प्रेय में विवेक न करके प्रलोभनों में फँस जाते हैं। तप का जीवन प्रेय से युद्ध करने का जीवन है। प्रेय से युद्ध करके ही मनुष्य की गति ऊपर को हो सकती है।

धर्म का तीसरा स्कन्ध है नियम के साथ ब्रह्मचारी रहकर आचार्यकुल में नियमित समय के लिए वास करना। आचारी वह है जो आचार की शिक्षा दे। आचार्य मौखिक शिक्षा भी देता है और आचार का आदर्श भी उपस्थित करता है। आदर्श कहते हैं शीशे को। शीशे में मनुष्य अपनी आकृति देख सकता है। इसी प्रकार आचार्य के आचरण में ब्रह्मचार्य अपनी आकृति देखता है और उसी का अनुकरण करता है। यह स्कन्ध तीनों स्कन्धों में मुख्यतम है, क्योंकि यहीं से समस्त धर्माचरण की सामग्री मिलती है।

पञ्चम आह्निक—तीन प्रकार के नर-नारी

[१७]

असुर और दया

त्रयः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुः, देवा मनुष्या असुरा। उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुः 'ब्रवीतु नो भवान्' इति। तेभ्यो ह एतद् अक्षरं उवाच 'द' इति। 'व्यज्ञासिष्टा?' इति। 'व्यज्ञासिष्म' इति ह ऊचुः 'दाम्यत इति न आत्थ' इति। 'ओम्' इति ह उवाच 'व्यज्ञासिष्ट' इति॥ १॥

अथ ह एनं मनुष्या ऊचुः 'ब्रवीतु नो भवान्' इति। तेभ्यो ह एतद् एव अक्षरं उवाच 'द' इति। 'व्यज्ञासिष्टा?' इति। 'व्यज्ञासिष्म' इति ह ऊचुः 'दयध्वं इति न आत्थ' इति। 'ओ३म्' इति ह उवाच 'व्यज्ञासिष्ट' इति॥ २॥

अथ ह एवं असुरा ऊचुः 'ब्रवीतु नो भवान्' इति। तेभ्यो ह एतद् एव अक्षरं उवाच 'द' इति। 'व्यज्ञासिष्टा?' इति। 'व्यज्ञासिष्म' इति ह ऊचुः 'दयध्वं इति न आत्थ' इति। 'ओ३म्' इति ह उवाच 'व्यज्ञासिष्ट' इति। तद् एतद् एव एषा दैवीवाग् अनुवदति स्तनयित्नुः 'द द द' इति। 'दाम्यत दत्त दयध्वं' इति। तद् एतद् त्रयं शिक्षेद् 'दमं दानं दयाम्' इति॥ ३॥

—बृहदारण्यकोपनिषद्, पञ्चम अध्यायः, द्वितीय ब्राह्मणम्

प्रजापति की तीन सन्तान पिता प्रजापति के पास ब्रह्मचारी बनकर आये—देव, मनुष्य और असुर। ब्रह्मचर्य व्रत का पूरा-

पूरा पालन करके देवों ने प्रार्थना की, ''महाराज! आप हमको कुछ उपदेश दीजिए।'' प्रजापति ने उनके प्रति एक अक्षर कह दिया ''द''। फिर उन्होंने पूछा, ''कुछ समझे?'' देवों ने उत्तर दिया, ''हाँ भगवन्! समझ गये। आपका उपदेश हमारे लिए यह है कि 'दम का पालन करो'।'' प्रजापति ने उत्तर दिया, ''ठीक है, तुम समझ गये'' ॥ १ ॥

अब मनुष्यों ने आकर प्रजापति से कहा, ''महाराज, हमें उपदेश दीजिए''। उनको भी प्रजापति् ने वही अक्षर कह दिया अर्थात् ''द''। प्रजापति ने पूछा, ''कहो, कुछ समझे?'' मनुष्यों ने उत्तर दिया, ''हाँ महाराज! समझ गये। आपका हमारे लिए उपदेश है कि 'दान दिया करो'।'' प्रजापति बोले, ''ठीक है, तुम समझ गये'' ॥ २ ॥

अब असुर लोग प्रजापति के पास आये और कहा, ''महाराज! हमें उपदेश दीजिए।'' उनको भी प्रजापति ने वही अक्षर कह दिया अर्थात् ''द''। अब प्रजापति ने पूछा, ''कहो! कुछ समझे?'' असुर लोगों ने उत्तर दिया, ''हाँ महाराज! समझ गये। आपने हमारे लिए यह उपदेश दिया है कि दया किया करो।'' प्रजापति ने कहा ''ठीक है, तुम समझ गये।'' यह जो बादल गरजता है तो आवाज़ होती है ''द द द।'' यह दैवी वाणी मानो संसार के नर-नारियों को चिल्ला-चिल्लाकर कह रही है, 'दम का पालन करो, दान दो और दया करो'। इससे तीन शिक्षाएँ मिलती हैं 'दम का सेवन करो, दान करो और दया करो' ॥ ३ ॥

उपनिषद् के इस छोटे-से वचन में बहुत ही सूक्ष्मता से कई

सचाइयों का वर्णन किया है जो मनुष्यों के जीवन को उत्तरोत्तर उन्नत बनाने के लिए उपयोगी है। पहली बात तो यह है कि नर-नारियों की प्रकृति के विचार से तीन श्रेणियाँ हैं। एक असुर, दूसरे मनुष्य, तीसरे देव। देव सबसे ऊँचे हैं। असुर सबसे नीचे और मनुष्य बीच के। साधारण मनुष्यों की गणना मनुष्यों में है। जो अधिक उत्कृष्ट हैं वे देव हैं और जो अधिक नीच हैं वे असुर हैं। ये हैं तीनों 'प्रजापत्य' अर्थात् ईश्वर की सन्तान, परन्तु अपने-अपने कुसंस्कारों के कारण उनके भेद अलग-अलग हैं। जैसे-जैसे पूर्व जन्म के संस्कार हुआ करते हैं ईश्वर उसी प्रकार के संस्कारों से युक्त मनुष्य को बनाता है, परन्तु जो ईश्वर के उपदेश को सुनते हैं और उस पर ध्यानदेते हैं उनकी उन्नति हो जाया करती है। जो असुर हैं वे उपदेश को सुनकर मनुष्यों की श्रेणी में आ जाते हैं और जो मनुष्य हैं वे देव की श्रेणी में। जो ईश्वर के उपदेश को सुनना नहीं चाहते उनका उल्लेख इस कथन में नहीं है। वे अपनी उन्नति चाहते ही नहीं। केवल यहाँ तो उन्हीं देव, मनुष्य और असुरों का उल्लेख है जो पिता प्रजापति के पास जाकर इच्छा प्रकट करते हैं कि "भगवान! आप हमें उपदेश देवें हम आपकी आज्ञा पालन करके अपने को उन्नत करना चाहते हैं।" इससे सबसे पहली शिक्षा यह मिलती है कि जब तक मनुष्य जिज्ञासु नहीं बनता उस समय तक उसके लिए कोई उपदेश काम नहीं करते। लोहे को यदि पीटकर कुछ बनाना चाहते हो तो पहले उसको अग्नि में तपाकर लाल करना होगा। बिना तपाये हुए लोहे को पीटने से कोई लाभ नहीं। मनुष्य जो प्रार्थना परमात्मा से करता है वह

एक प्रकार की अग्नि है जिसमें वह अपनी आन्तरिक प्रकृतिरूपी लोहे को तपा रहा है। प्रार्थना=प्र-अर्चना, अर्थात् अपनी आन्तरिक इच्छा को तीव्र बनाना। पहले आप अपनी इच्छा को शब्दों द्वारा प्रकट करते हैं। शब्द मन पर प्रभाव डालते हैं और उस प्रभाव की प्रतिक्रिया स्वरूप इच्छा और अधिक तीव्र होती है। इच्छा के तीव्र होने से मनोवृत्ति इस अवस्था में हो जाती है कि उपदेश को शीघ्रता से ही ग्रहण कर लिया जाए। यदि कोई रोगी रोग से पीड़ित होकर नीरोग होने की उत्कट इच्छा रखता हुआ वैद्य के पास आता है तो वह झट ही वैद्य के उपदेश को ग्रहण कर लेता है। कुछ वैद्य रोगी की ओर बढ़ता है। कुछ रोगी पहले से ही वैद्य की ओर बढ़ता है और बीच में वह मिल जाते हैं, परन्तु जो रोगी अच्छा होना नहीं चाहता उसके लिए वैद्य का उपदेश निरर्थक है। उपनिषद् जिन व्यक्तियों की ओर सङ्केत करती हैं वे अपनी दशा से असन्तुष्ट हैं और उसको उन्नत बनाने के लिए उत्कण्ठित प्रतीत होते हैं।

सबसे निकृष्ट श्रेणी अर्थात् असुरों से चलिए। असुर कौन हैं? असुर वे हैं जो अपने लाभ के सामने किसी दूसरे की लाभ की परवाह नहीं करते। स्वार्थ-सिद्धि उनका परम ध्येय है। यदि उनके स्वार्थ की सिद्धि होती हो तो वे दूसरे को मारने, उनको लूटने अथवा अन्य प्रकार से हानि पहुँचाने में कुछ भी सङ्कोच नहीं करते। उनका तो कहना है कि जब तक हम दूसरों को हानि नहीं पहुँचाएँगे हमको लाभ होगा ही नहीं। उन्होंने प्रकृति में से ऐसे पशुओं तथा हिंसक प्राणियों के उदाहरण इकट्ठे कर रक्खे हैं जो दूसरों को हानि पहुँचाकर ही अपना पेट भरते हैं।

वे कहते हैं कि शेर यदि दूसरों के जान की परवाह करे तो भूखों मर जाए। बड़ी मछलियाँ छोटी सहस्रों मछलियों को खा लेती हैं तभी उनका पालन होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य दूसरो मनुष्यों के लाभों पर विचार करेगा उसकी कुछ उन्नति नहीं हो सकती। एक क़साई चार पैसे कमाने के लिए बकरे या गाय को मार डालता है और उसके मांस को बाज़ार में खुश होकर बेचता है। यह क़साई का असुरपन है। एक मनुष्य जीभ के स्वाद के लिए चहचहाते हुए पक्षियों पर गोली छोड़ देता है और वे फड़फड़ाते हुए नीचे आ पड़ते हैं। पक्षी तड़ता है और शिकारी खुश होता है। यह है शिकारी का असुरपन। एक डाकू धनवान बटोही को देखकर थैली छीन लेता है। वह नहीं जानता कि उसके इस काम से कितने बच्चों के पेट में अन्न न जाएगा। उसकी बला से! उसे तो आज अपने बच्चों का पेट पालने के लिए विना कमाये ही धन मिल गया। यह है डाकू का असुरपन। एक चोर आपका ताला तोड़कर चुपके से आपका माल निकाल ले जाता है। उसे थोड़ा-सा भी सङ्कोच नहीं होता कि इससे आपको कितना कष्ट पहुँचेगा। यह है चोर का असुरपन। आप रेल में जा रहे हैं। टिकट और कुछ पैसे आपकी जेब में हैं। गिरहकट चुपके से आपके पैसों की थैली जेब काटकर निकाल लेता है और बड़ा खुश होता है कि बैठे-बिठाये माल मिल गया। वह यह सोचने की चिन्ता नहीं करता कि आप पर क्या बीतेगी? आपकी मार्ग में कौन सहायता करेगा? आप कैसे घर पहुँचेंगे? यह है जेबकट का असुरपन। एक आक्रमणकारी सेना लेकर किसी निरपराध जांति या देश पर चढ़ जाता है। उनके मकान,

उनके खेत, उनके कोष सबको बरबाद कर देता है। जो देश-भक्त है उनको हराकर बन्दी बना लेता है या मार डालता है। वह क्या सोचता है कि उसके इस कर्म से किसको कितना कष्ट होगा? यह है आक्रमणकारी का असुरपन। जब रावण सीता को हरले गया तो क्या उसने सीता के कष्ट की भी परवाह की? यह था रावण का असुरपन। जब दुर्योधन ने भरी सभा में द्रौपदी को अपमानित किया था तो क्या वह यह भी सोचता था कि द्रौपदी के भी उसकी-सी ही जान है? यह था दुर्योधन का असुरपन। संसार ऐसे असुर नर-नारियों से भरा पड़ा है जो अपने सुख के लिए दूसरों के दुःख की कुछ भी परवाह नहीं करते। ऐसे नर-नारी यदि अपने सुधार की बात सोचने लगें तो उनके लिए सबसे उत्तम उपदेश यही हो सकता है कि "दया करो"। यदि वह दया करना सीख जाएँ तो उसी क्षण से उनके असुरत्व में कमी होने लगे। असुरों की कई श्रेणियाँ हैं। कोई कम असुर है तो कोई अधिक असुर है। कोई कभी असुर बन जाता है और कभी उसके आसुरी भाव लुप्त-से हो जाते हैं और समय पड़ने पर ही उद्‌भूत हो उठते हैं। कुछ लोग हैं जो साधारणतया तो चुपके बैठे रहते हैं, परन्तु यदि वह किसी नन्हें-से बालक बकरे को देखते हैं तो उनके मुँह में पानी भर आता है और उनको पकाकर खाने के लिए झट तैयार हो जाते हैं। किसी के धन को लेने का अवसर पाते ही अपना हाथ बढ़ा बैठते हैं। यह सब असुर हैं। क्षणभर के लिए ही आसुरी भावों से प्रेरित होते हैं, परन्तु होते अवश्य हैं। इनमें से कौन-सा मानसिक रोग है जो इनको आसुरी बातों के लिए प्रेरित करता है? यह है 'निर्दयता'।

दूसरे प्राणी को अपना जैसा न समझना। इस आसुरी प्रकृति के लोग यदि अपनी मनोवृत्तियों का आत्म-निरीक्षण करने लगें तो उनको ही मालूम हो जाएगा कि निर्दयता उनका रोग है और दया करने से ही वह रोग दूर हो सकता है। जिसमें दया का भाव आ गया उस चोर के पैर आगे को न पड़ेंगे, उस डाकू का हाथ रुक जाएगा। उस शिकारी की गोली निशाने से चूक जाएगी। उस क़साई की छुरी कुण्ठित हो जाएगी। उसी क्षण से उसके जीवन में परिवर्तन होगा जो उसको निम्न श्रेणी से उठाकर ऊपर की ओर फेंक देगा। कथा है कि बाल्मीकि ऋषि आरम्भ में डाकू थे। किसी सन्त महात्मा ने उनके हृदय को बदल दिया। महात्मा बुद्ध के जीवन में कई ऐसे उदाहरण आते हैं। महान् घातकों और डाकुओं का महात्मा बुद्ध से सम्पर्क हुआ और बुद्ध भगवान् ने प्रजापति के 'द' शब्द का उच्चारण किया और उनके जीवन शुद्ध पवित्र बन गये। यहाँ हम दो कथाएँ देते हैं—

(१) पशु-यज्ञ आसुरी प्रथा है?

महात्मा बुद्ध के समय में पशु-यज्ञ का बड़ा प्रचार था। कहते हैं कि एक धनाढ्य पुरुष के सन्तान न थी। वह बड़ा चिन्तित रहा करता था। ब्राह्मणों ने उसको कहा कि एक बड़ा पशु-यज्ञ करो तो तुम्हारे लड़का होगा। इस काम के लिए एक दिन नियत किया गया और हज़ारों भेड़ें और बकरियाँ बलि देने के लिए इकट्ठी की गईं।

अकस्मात् महात्मा बुद्ध दया-धर्म का प्रचार करते हुए उस ग्राम में आ पहुँचे। उन्होंने चहल-पहल देखकर पूछा कि क्या

हो रहा है। लोगों ने कहा कि अमुक धनाढ्य पुरुष के पुत्र नहीं है, इसलिए उसने होम करने का निश्चय किया है। यह सब भेड़-बकरियाँ होम के लिए इकट्ठी की गई हैं। इतने बड़े रेवड़ को मृत्यु के पञ्जे में देखकर महात्मा बुद्ध को बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने उनको बचाने का निश्चय कर लिया।

वह उस पुरुष के पास गये और उसको समझाने लगे कि भेड़ और बकरियों में भी मनुष्य के समान ही जान है और कोई मनुष्य इनको मारकर होम करने से कल्याण की आशा नहीं कर सकता।

पहले तो उस पुरुष ने शाक्य मुनि की बात न सुनी। वह नहीं जानता था कि महात्मा बुद्ध यही हैं। अन्त में बुद्ध ने कहा, ''देखो! एक मनुष्य की जान कई पशुओं के जान के बराबर है। यह तो तुम भी मानते हो।''

उसने उत्तर दिया, ''हाँ।''

''तो मैं तुमको एक उपाय बताता हूँ। तुम मुझको मारकर होम कर दो और इन पशुओं को छोड़ दो। यदि तुमको इन पशुओं के होम करने से सन्तान की प्राप्ति हो सकती है तो अवश्य ही मुझको मार कर होम करने से भी वही फल होगा।''

वह मनुष्य बुद्ध भगवान् के मुँह की ओर देखता रह गया। उसे आज तक ऐसे किसी पुरुष के दर्शन नहीं हुए थे जो पशुओं की जान बचाने के निमित्त अपनी जान देने के लिए उद्यत हो जाए। उसकी आँखें खुल गईं और जब उसे मालूम हुआ कि वह स्वयं बुद्ध भगवान् हैं जो उसे उपदेश दे रहे हैं तो वह उनके चरणों में गिर पड़ा और उनका अनुयायी हो गया। जितने पशु

बलि देने के लिए इकट्ठे किये गये थे वे सब-के-सब मुक्त कर दिये गये। भेड़ें और बकरियाँ स्वेच्छापूर्वक जङ्गल में विचरने लगीं। अब उनको पकड़ने वाला कोई न था। वे जहाँ जी चाहता जा सकती थीं। जिस चश्मे का जी चाहता उसी का पानी पी सकती थीं। जिनके गले पर छुरी फिरनेवाली थी उनको इतनी स्वतन्त्रता केवल बुद्ध भगवान् के द्वारा ही प्राप्त हो सकी।

इसी प्रकार के उपदेश देकर बुद्ध भगवान् ने दया के व्रत की शिक्षा दी। इसी शिक्षा के कारण लोगों ने पशु-यज्ञ करना बन्द कर दिया। बुद्ध भगवान् दया के वास्तविक अवतार थे।

(२) अंगुलीमाल डाकू की कथा

बुद्धदेव ने सब प्राणियों के साथ दया का व्यवहार करने का उपदेश तो दिया ही, परन्तु इससे भी अधिक काँम उन्होंने यह किया कि वह शत्रु पर भी दया करने के पक्ष में थे। वह अपने शिष्यों को उपदेश देते थे कि मित्रों के साथ तो सभी दया किया करते हैं, इसमें बड़प्पन ही क्या है? बड़प्पन तो यह है कि शत्रुओं के साथ भी दया करनी चाहिए।

बुद्ध भगवान् का उपदेश यह है, ''यदि तुम क्रोध पर विजय पाना चाहते हो तो क्रोध मत करो। बुराई को भलाई से जीतो। लालच को उदारता और दान से जीतो। झूठ को सच से जीतो। जिस प्रकार के उत्तम सवार ही बिगड़े हुए घोड़े को वश में कर सकता है उसी प्रकार के उत्तम पुरुष ही अपने क्रोध को शान्त कर सकता है। जो मनुष्य समझता है कि गाली देकर मैं किसी को दबा लूँगा वह मूर्ख है। वह कभी उस मनुष्य पर विजय नहीं पा सकता जो शान्त है''।

बुद्ध भगवान् ने शान्त और मधुर शब्दों से एक डाकू को किस प्रकार वश में किया उसकी कथा हम यहाँ देते हैं।

शाक्य मुनि कोशल देश की यात्रा कर रहे थे। जब वह एक वन में होकर गुजरे तो लोगों ने कहा, ''महाराज! आप इस वन में न जाइए। यहाँ एक क्रूर डाकू रहता है जो लोगों को लूटकर मार डालता है।''

इस डाकू का नाम था अंगुलीमाल। उसने आस-पास के गाँवों में आफ़त मचा रक्खी थी। उसके कारण लोगों का चलना कठिन था। वह लूट-मार करता और घने जङ्गल में भाग जाता। राजा की राजधानी में भी लोग इससे डरने लगे थे, क्योंकि इसने महलों तक लूट-मार करना आरम्भ कर दिया था। पुलिस के लोग इसे पकड़ने में असमर्थ थे। वह ऐसे स्थान में रहता था जहाँ किसी की गुजर नहीं हो सकती थी।

तब कोशल देश के वासियों ने महात्मा बुद्ध को इस डाकू के विषय में सूचना दी और वन में जाने से रोका तो उन्होंने किसी प्रकार का भय प्रकट न किया। उनको भय ही किस बात का था। भय तो वह करता है जिसे अपने प्राणों की परवाह हो। जिसने दूसरों के सुधारने का बीड़ा उठाया हो उसको अपने प्राणों की क्या परवाह!

बुद्ध भगवान् न रुके। वह चलते ही गये और घने और निर्जन वन में उस स्थान पर पहुँचे जहाँ डाकू रहता था। डाकू उनको देखकर चिढ़ गया और उनको मार डालने के लिए उतारू हो गया। उसने फरसा उठाया और निकट ही था कि बुद्ध भगवान् का सिर उनके धड़ से अलग जा पड़ता, परन्तु बुद्ध मुसकुराते

हुए बड़े शान्त भाव से खड़े हुए थे। उनके मधुर शब्दों ने वह काम किया जो बड़े शस्त्र भी न कर सकते थे। इस डाकू ने अब तक सैकड़ों मनुष्यों के प्राण लिये थे, परन्तु किसी को मौत के मुँह में ऐसा शान्त नहीं पाया था। उसका हाथ उठा का उठा ही रह गया। फरसा उठा तो, परन्तु गिर न सका और जिस प्रकार जलती हुई आग की ज्वाला जल के छींटों से शान्त हो जाती है उसी प्रकार अंगुलीमाल का क्रोध जाता रहा।

अब क्या था? विजय बुद्ध के हाथ में थी। बुद्ध ने उपदेश देना आरम्भ किया। इससे पहले अंगुलीमाल डाकू था, परन्तु आज शिष्य अंगुलीमाल बुद्ध भगवान् को गुरु मानकर उनसे दीक्षा ले रहा था।

अंगुलीमाल को अपने किये पर इतना पश्चात्ताप हुआ कि उसने डाकूपन के जीवन को तुरन्त ही त्याग दिया और एक विश्वासपात्र धर्मात्मा भिक्षु हो गया।

जिस प्रकार एक मनुष्य जङ्गल से शेर को पकड़कर लाता है और शेर बड़ी नम्रता से उसके पीछे-पीछे चल रहा हो तो लोगों को आश्चर्य होगा। इसी प्रकार जब बुद्ध भगवान् आगे-आगे और अंगुलीमाल भिक्षु के वेश में उनके पीछे-पीछे वन से बाहर आये तो लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। सब दाँत तले अँगुली दबाकर रह गये।

जिस पुरुष को बड़े-बड़े पुलिस के अफ़सर भी न दबा सके उसको बुद्ध भगवान् ने मधुर शब्दों से ही दबा लिया। नरम उपदेश में कितनी शक्ति है? जब लोग अंगुलीमाल को भिक्षु के वेश में देखते थे तो उनको विश्वास नहीं होता था कि यह

वही डाकू है अथवा कोई और है।

कहते हैं कि अंगुलीमाल का जीवन बड़ा पवित्र हो गया। वह बड़ी उच्चकोटि के साधुओं में गिना जाता था। उसकी बड़ी कीर्ति थी, परन्तु वह अधिक दिनों तक जीवित न रह सका।

[१८]

मनुष्य और दान

अब साधारण मनुष्यों को लीजिए। यह निर्दयी नहीं होते, परन्तु इनका दृष्टिकोण ऐसा है कि दूसरों को हानि न पहुँचाते हुए अपने स्वार्थ की जहाँ तक सिद्धि हो सके करनी चाहिए। वह चोर डाकूओं के समान दूसरों का माल छीन कर नहीं खाते, परन्तु परोपकार के लिए अपने को भी हानि नहीं पहुँचाते। 'प्रत्येक मनुष्य अपने लिए और परमात्मा सब के लिए' ऐसा उनका मत है। हमको अपनी चिन्ता करनी है। दूसरों की चिन्ता भगवान् स्वयं करता है। हमको उनसे क्या लेना है और हमें उनको क्या देना है। यह असुरों से तो कई गुने अच्छे हैं, परन्तु उनका क्षेत्र बहुत संकुचित है। वह अपने घर, परिवार, सम्बन्धियों की सहायता तो करते हैं, परन्तु अपना समझकर। जो इनके क्षेत्र से बाहर है वह इनकी सहायता के क्षेत्र से भी बाहर है। असुरों को लोग बुरी दृष्टि से देखते हैं, परन्तु मनुष्य को कोई बुरी दृष्टि से नहीं देखता। चोरी करना, मारना, लूटना पाप है, परन्तु किसी ग़ैर की सहायता न करना न तो पाप है न जुर्म! यदि कोई भूखा मेरे घर पर आता है और मैं उसे खाना नहीं देता तो पुलिस मुझको पकड़ेगी नहीं और न लोग मुझे चोर

या डाकू समझेंगे। क्या हुआ यदि मैंने अपना पैसा उसको नहीं दिया? मैंने उससे कुछ लिया तो है नहीं। क्या मैंने उसका कर्ज़ खाया है? जब भूखा सेठ जी की दुकान पर पैसा माँगने आता है तो सेठ जी कह उठते हैं, ''क्यों चिल्लाता है? क्या तेरा हमने कर्ज़ खाया है?'' यदि कोई चन्दा लेने आता है तो सेठ जी बोलते हैं, ''परेशान कर रक्खा है, जब चाहते हैं चल देते हैं। रात-दिन प्राण खाये जाते हैं। चन्दा! चन्दा! क्या हमने इनसे कर्ज़ लिया था?'' ऐसे लोग जितने हैं यदि उतने ही रहना चाहते हैं तो रहें, परन्तु यदि वे उपदेश चाहते हैं, यदि उनकी इच्छा है कि हम अपनी इस कक्षा से चलकर ऊँची कक्षा तक पहुँच जाएँ, यदि वे समझते हैं कि हमारी यथेष्ट उन्नति नहीं हुई, अभी आगे भी जाना है तो इनके लिए बादलों की गरज़ के साथ-साथ ''द द द'' का उपदेश मिल रहा है। अर्थात् ''दान करो। दान करो।'' यही तुम्हारी त्रुटी है। दान करोगे तो मनुष्य श्रेणी से उठकर देव श्रेणी में पहुँच जाओगे। जो कर्ज़ लेकर नहीं देते, वह मनुष्य नहीं असुर है। तुम किसी का कर्ज़ नहीं खाते, यही अच्छी बात है। तभी तो तुम असुरों से बढ़कर हो, परन्तु मनुष्य के लिए इतना ही होना पर्याप्त नहीं है। जब तुम्हारे हृदय में यह भाव उठेगा कि हमको दूसरों की निःस्वार्थ भाव से सेवा करनी चाहिए, तब तुम दान देने लगोगे। इस भाव से नहीं कि हमने कर्ज़ लिया था, किन्तु इस भाव से कि दूसरों को उनकी आवश्यकता समझकर देने से हमारा आत्मा उच्च और विशाल बनेगा। मनुष्यत्व से उठकर देवत्व तक पहुँचने का सबसे उत्तम मार्ग यही है। जो देव बने हैं इसी विधि से बने हैं। उन्होंने धन कमाया,

परन्तु उस कमाये हुए धन को दूसरों को उदारता से दान दिया। चन्दा दिया इसलिए नहीं कि हमको वोट (मत) देने का अधिकार मिलेगा या हमारी ख्याति होगी, किन्तु इसलिए कि हमारे धन का सबसे अच्छा प्रयोग यही है कि दूसरों के कष्ट दूर हों।

इस विषय में शतपथ ब्राह्मण का एक उदाहरण उपयुक्त होगा।

देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततोऽसुरा अति मानेन एव 'कस्मिन् नु वयं जुहुयाम' इति स्वेषु एव आस्येषु जुह्वतः चेरुः। ते अतिमानेन एव परावभूवुः। तस्मात् न अतिमन्येत्। पराभवस्य ह एतत् मुखं यत् अतिमानः। अथ देवाः, अन्यो अन्यस्मिन् एव जुह्वतः चेरुः। तेभ्यः प्रजापतिः आत्मानं प्रददौ। यज्ञो ह एषां आस, यज्ञो ह देवानान् अन्नम्॥

—शतपथ काण्ड ५, ब्राह्मण १, १-२

प्रजापति के दोनों पुत्र देव और असुर आपस में बड़ाई के लिए लड़ पड़े। उनमें से असुर थे अभिमानी। वे कहने लगे, ''हमको औरों की क्या परवाह।'' इसलिए वे अपने-अपने मुँह में ही आहुतियाँ डालने लगे। इस अभिमान के कारण वे परास्त हो गये। अभिमान नहीं करना चाहिए। यह पराजय का मूल कारण है॥ १॥

देवों ने क्या किया? वे एक-दूसरे के मुँह में ही आहुतियाँ डालने लगे। प्रजापति उनसे प्रसन्न हो गये और अपने-आपको उनकी भेंट कर दिया। यज्ञ उनका हो गया। यज्ञ ही देवों का अन्न है॥ २॥

असुरों से जो देव बनना चाहें उसका कर्त्तव्य है कि अपने धन, अपने बल और अपनी शक्ति का केवल अपने लिए ही प्रयोग न करें, किन्तु इसको दूसरों की भलाई में लगावे और अभिमान कभी नं करे।

यज्ञ देवों का भोजन है, अर्थात् जो यज्ञ करता है वह देव हो जाता है। यज्ञ वह नहीं है जिसमें स्वार्थ के लिए पशु मारे जावें। जिसका कि बुद्ध महाराज ने खण्डन किया था। यज्ञ वह है जिसमें अपने स्वार्थ को छोड़कर दूसरे का उपकार किया जाता है। इससे मनुष्य देव बन जाते हैं।

[१९]

देव और दम

देव मनुष्यों में सबसे उच्च हैं। वे दया भी करते हैं और दान भी, परन्तु इतने पर भी वे सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने यह नहीं कहा कि हम तो उच्चतम श्रेणी में पहुँच गये। अब हमको उपदेश की क्या आवश्यकता? उन्होंने भी अपने में कुछ त्रुटि समझी और प्रजापति से उपदेश के लिए प्रार्थना की। प्रजापति ने भी उनको पूर्ण नहीं समझा। पूर्ण तो केवल ईश्वर है जिसमें कभी अपूर्णता आती ही नहीं। जीव तो घटता-बढ़ता रहता है। जो देव हैं उनको अपना देवत्व सुरक्षित रखने के लिए उपदेश की आवश्यकता है। जो उन्नति के शिखर पर पहुँच गया उसके लिए आवश्यक है कि कोई ऐसा काम न करे जिससे उस उच्च स्थान से नीचे गिर जाए। मनुष्य का जीवन दोलायमान होता है। कभी ऊपर जाता है कभी नीचे। इसी नियम के अनुसार प्रजापति ने

उनको अपना उपदेश दे ही डाला अर्थात् 'द' इसका सेवन करो। आत्म-दमन करो। दयालु और दानी मनुष्य में भी अभिमान हो जाता है। दान के सदाव्रत खुले हुए हैं। मैंने लाखों गायों को पुण्य किया है। मेरी धर्मशालाएँ चल रही हैं। मैंने इतने धर्म मन्दिर बनवायें हैं। मुझसे अधिक किसकी ख्याति होगी? जिधर देखो लोग मेरे दान की प्रशंसा करते हैं। मुझे लोग दानवीर कहते हैं। यह भाव उठते ही आत्मा में अभिमान आरम्भ हो जाता है और यह अभिमान देवों को देवत्व से गिराकर मनुष्य की श्रेणी तक लाने के लिए पर्याप्त है। अभिमान आते ही पतन का आरम्भ होता है। यह पतन कहाँ समाप्त होगा यह कहा नहीं जा सकता। इस रोग से बचने के लिए आत्म-दमन से अच्छी औषध नहीं है। देवों को चाहिए कि इस दैवी वाणी को सुनें। उनके लिए दैवी वाणी की सबसे अधिक आवश्यकता है, क्योंकि मनुष्य की वाणी न तो उनको कानों तक पहुँच सकती है और न वे किसी के उपदेश को सुन ही सकते हैं। चोर, डाकू, क्रूर असुरों का विरोध करने और उनकी शिकायत करने के लिए तो सारा संसार है। डाकू ने जिसके घर में डाका डाला है उसके बाल-बच्चे उच्च स्वर से उसको कोस रहे हैं जिधर देखो 'त्राहिमाम् त्राहिमाम्' के शब्द आ रहे हैं। जो दान करने से जी चुराते हैं उनको भी भिखारी दबी ज़बान से कोसते हैं "लाखों जमा किये हैं, बड़ा कञ्जूस है, दरिद्रों को एक पैसा नहीं देता, इसका प्रातःकाल मुँह नहीं देखना चाहिए", परन्तु जो दया भी करता है और दान भी उसको उपदेश देवे कौन? उसके दान से सबके मुँह बन्द हैं। जिधर देखो प्रशंसा ही प्रशंसा हो रही है। सब

लालाजी के पास खाली हाथ आते हैं और भरे हाथ जाते हैं। ऐसी दशा में कौन-सा ऐसा आत्मा है जिससे हृदय में अभिमान की तरङ्गें नहीं उठतीं और यदि वह अभिमान करता है तो कौन-सा ऐसा वीर है जो लालाजी से यों कहे कि तुम अभिमान मत करो, परन्तु यह अभिमान ही उनको ले डूबता है।

[२०]

आसुरी और दैवी सम्पत्

गीता में आसुरी और दैवी सम्पत् के विषय में बड़ा सुन्दर उपदेश है जो नीचे दिया जाता है—

अभयं तत्वसंशुद्धिर्ज्ञान योग व्यवस्थितः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्यलोलुप्तं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २ ॥
तेजः क्षमाधृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३ ॥

—अध्याय १६।१-३

हे अर्जुन, देवों की प्रकृति के यह लक्षण हैं—(१) भय न होना, (२) अन्तःकरण की शुद्धि, (३) ज्ञान के अनुकूल अपना कार्य करना, (४) दान, (५) दम, (६) यज्ञ, (७) स्वाध्याय, (८) तप, (९) सरलता, (१०) अहिंसा, (११) सत्य, (१२) क्रोध न करना, (१३) त्याग, (१४) शान्ति, (१५) चुग़ली न खाना, (१६) जीवों पर दया, (१७) लोलुप न होना, (१८) नरमी, (१९) लज्जा, (२०) चपलता न होना, (२१) तेज,

(२२) क्षमा, (२३) धृति,)२४) शौच, (२५) द्रोह न करना और (२६) अभिमान न करना।

जिनमें यह गुण पाये जाएँ वह देव हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥

—गीता १६।४

पाखण्ड, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता, और अज्ञान यह असुरों के लक्षण हैं।

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
माशुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

—गीता १६।५

जो लोग देवों की प्रकृति बनाते हैं उनकी मोक्ष होती है और आसुरी बातें मनुष्य को बन्धन में डालती है, हे अर्जुन तू दैवी लक्षणों को धारण कर और शोक मत कर। इससे तेरा कल्याण होगा।

द्वौ भूत सर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरश· प्रोक्त आसुरं पार्थ में शृणु॥ ६॥
प्रवृत्तिं च निवृत्ति च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥

इस लोक में दो प्रकार के प्राणियों के स्वभाव हैं। एक देवों का और दूसरा असुरों का। देवों का ऊपर बताया जा चुका है, असुरों का मुझसे सुनो।

असुर लोग यह नहीं जानते कि क्या करना चाहिए। उनके मन, वचन और कर्म में शुद्धता नहीं। न वे आचार का ध्यान

रखते । उनमें सत्यता नहीं होती।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं विमन्यत् कामहैतुकम्॥ ८॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मनोऽल्पशुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमान मदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वासद् ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥
आशा पाश शतैर्बद्धाः कामक्रोध परायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥ १२॥

यह लोग मानते हैं कि जगत् असत् है। इसका कोई आधार नहीं है। इसको ईश्वर ने नहीं बनाया। इस जगत् की चीज़ों का एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध नहीं है। केवल कामवासना ही जगत् का मूल है॥ ८॥

ऐसी धारणा होने के कारण उनका दृष्टिकोण भी कामवासना युक्त हो जाता है। आत्मज्ञान नष्ट हो जाता है, बुद्धि उदार नहीं रहती और उनके जो काम होते हैं संसार की अवनति और अहित के ही हेतु होते हैं। वे सब कामवासना से ही प्रेरित होकर करते हैं॥ ९॥

दम्भ, मान और मद में चूर हुए असुर लोग कभी न पूरी होनेवाली कामनाओं के वस में हो जाते हैं। मूर्खता के कारण वह असत्य बातों को मानने लगते हैं और उनकी वृत्तियाँ दूषित हो जाती है॥ १०॥

ऐसे लोग निरन्तर चिन्ता को झेलते हुए विषय-भोग में फँसे रहते हैं, अर्थात् एक भोग से निवृत्त हुए तो दूसरे भोग की तलाश हुई। उस भोग की समाप्ति हुई तो किसी अन्य विषय की खोज हुई। इस प्रकार निरन्तर एक भोग से दूसरे भोग तक ही उनकी दौड़ रहती है। उनको मालूम ही नहीं कि भोगों से आगे कोई ऐसी चीज़ भी है जिसको उच्च जीवन कह सकें॥ ११ ॥

सैकड़ों आशाओं के जाल में फँसे हुए काम और क्रोध में लिप्त जीवन भर अपने विषय-भोग की सामग्री अन्यायपूर्वक इकट्ठी किया करते हैं, अर्थात् उनको अपने विषयों की पूर्त्ति से ही अवकाश नहीं मिलता। आत्म-उन्नति के साधनों को कौन सम्पादित करे। खाने-पीने और मौज उड़ाने से ही उनको चैन नहीं मिलता॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरो हमहं भोगी सिद्धोहं बलवान् सुखी॥ १४ ॥
आढ्योभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशोमया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञान विमोहिताः॥ १५ ॥

असुरों की भावनाएँ कैसी होती हैं इसका वर्णन करते हैं।

आज मुझको इतना मिल गया, कल मुझे इतना और मिल जाएगा। इतना धन मेरे पास है, इतना और आ जाएगा॥ १३ ॥

मैंने इस शत्रु को मार डाला, औरों को अब मार डालूँगा। मैं तो बलवान हूँ, मालिक हूँ, भोगी हूँ और सुखी हूँ। मुझे किसी से क्या डरना? मैं तो सब कुछ हूँ॥ १४ ॥

मेरे पास तो बहुत से लोग हैं। मेरे बराबर दूसरा कौन होगा? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, आनन्द करूँगा। इत्यादि-इत्यादि अज्ञानरूपी मोह में फँसे रहते हैं॥ १५॥

अनेक चित्त विभ्रान्ता मोहजाल समावृताः।
प्रसक्ताः काम भोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥
आत्म सम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

उनके चित्त में अनेकों भ्रम रहते हैं। वे मोह के जाल में जकड़े रहते हैं। विषय-भोग में फँसे हुए वह मलीन नरक में पड़ते हैं॥ १६॥

उनमें अपनापन बहुत होता है। धन, अभिमान और घमण्ड भी बहुत होता है। वे जो यज्ञ आदि शुभ काम भी करते हैं वह नाम और पाखण्ड के लिए। उनके यज्ञ विधिपूर्वक नहीं होते। वह वस्तुतः देव नहीं हैं और देवों के से कर्म प्रकटरूप में करते हुए भी देव नहीं बन सकते॥ १७॥

ऐसे ही लोगों के लिए प्रजापति ने कहा था कि आत्मदमन करो। जिससे तुम्हारे देवत्व का ह्रास न हो।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

काम, क्रोध और लोभ तीनों आत्मा के नाशक और नरक के दरवाज़े हैं। इनको तो त्यागना ही चाहिए॥ २१॥

यः शास्त्र विधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारता।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्॥ २३॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

जो वेद शास्त्रविहित विधि को छोड़कर काम वासना से प्रेरित होकर काम करते हैं उनको न तो फल की सिद्धि होती है न सुख मिलता है न मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

इसलिए वेदों का प्रमाण मानकर जो उचित है उसे करना चाहिए। जो अनुचित है उसे छोड़ देना चाहिए। हे अर्जुन ! तुमको वेदों की आज्ञा को भली-भाँति समझकर उसी को करना चाहिए ॥ २४ ॥

गीता के इस अध्याय में यही उपदेश दिया गया है कि जो दया और दान भी करते हैं, परन्तु काम-वासना से प्रेरित होकर करते हैं वे देव नहीं हैं, किन्तु असुर ही हैं। जो मनुष्य देव बनना चाहता है और देवत्व को सुरक्षित रखना चाहता है उसको काम, क्रोध और लोभ को छोड़कर शास्त्र की विधि के अनुसार आचरण करना चाहिए।

षष्ठ आह्निक—लोक-परलोक

[२१]

आत्मा स्वयं ज्योति है

जनकं न वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य इति। अथ ह यज् जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्च अग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ। स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तं ह अस्मै ददौ तं सम्राड् एव पूर्वं पप्रच्छ॥ १॥

''याज्ञवल्क्य किं ज्योतिरयं पुरुषः'' इति। ''आदित्यज्योतिः सम्राड्'' इति ह उवाच ''आदित्येन एव अयं ज्योतिषास्ते पल्ययते (परि अयते) कर्म कुरुते विपल्येति (वि, परि, एति)'' इति। ''एवं एव एतद् याज्ञवल्क्यः''॥ २॥

याज्ञवल्क्य ऋषि राजा जनक वैदेह के यहाँ गये और सोचा कि मैं अपनी ओर से कोई बात न करूँगा। एक दिन जनक वैदेह और याज्ञवल्क्य में अग्निहोत्र करते-करते बातचीत चल पड़ी। याज्ञवल्क्य ने कहा, ''राजन्, मैं तुमको वर देता हूँ, कोई वर माँग लो।'' राजा जनक बोले, ''मैं यही वर माँगता हूँ कि जो प्रश्न मैं चाहूँ आप उसका समाधान कर दें''॥ १॥

अब राजा जनक ने पूछा, ''याज्ञवल्क्य! यह मनुष्य किस ज्योति के सहारे रहता है?'' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, ''सूर्य की ज्योति के सहारे। इसी के सहारे बैठता है, इधर-उधर जाता है और लौट आता है''। जनक बोले, ''हाँ! महाराज! है तो ऐसा

ही।''॥ २ ॥

''अस्तमिते आदित्ये, याज्ञवल्क्य, किं ज्योतिः एव अयं पुरुषः'' इति। ''चन्द्रमा एव अस्य ज्योतिः भवति चन्द्रमसा एव अयं ज्योतिषा आस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति'' इति। ''एवं एव एतद् याज्ञवल्क्य''॥ ३ ॥

जनक ने फिर पूछा, ''सूरज के छिप जाने पर किस ज्योति का आश्रय लेता है?'' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, ''चन्द्रमा की ज्योति का! इसी के प्रकाश के सहारे बैठता है, चलता है। काम करता है और लौट आता है।'' राजा जनक ने कहा, ''हाँ महाराज! है तो ऐसा ही''॥ ३ ॥

''अस्तमिते आदित्ये, याज्ञवल्क्य, चन्द्रमसि अस्तमिते किं ज्योतिः एव अयं पुरुषः'' इति। ''अग्निना एव अयं ज्योतिषा आस्ते पल्ययते कर्मकुरुते विपल्येति'' इति। ''एवं एव एतद् याज्ञवल्क्य''॥ ४ ॥

जनक ने पूछा, ''जब सूर्य और चाँद दोनों छिप जाते हैं तो किस ज्योति का सहारा लेता है।'' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, ''अग्नि का। आग के प्रकाश के सहारे ही बैठता है, फिरता है, काम करता है और लौट आता है।'' जनक ने कहा, ''हाँ! महाराज, है तो ऐसा ही''॥ ४ ॥

''अस्तमिते आदित्ये, याज्ञवल्क्य चन्द्रमसि अस्तमित शान्ते अग्नौ किं ज्योतिः एव अयं पुरुषः?'' इति। ''वाग् एव अस्य ज्योतिः भवति'' इति।''तस्माद् वै सम्राड्अपि यत्र स्वः पाणिः न विनिर्ज्ञायते अथ यत्र वाग् उच्चरति उप एव तत्र न्येति'' इति। ''एवं एव एतद् याज्ञवल्क्य''॥ ५ ॥

राजा जनक ने पूछा, ''जब सूर्य और चाँद दोनों छिप जाएँ और आग भी बुझ जाए तो किस प्रकार का सहारा लेता है?'' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, ''उस समय वाणी का ही सहारा लेता है। वाणी के प्रकाश से ही बैठता है। इसी से चलता है, काम करता है और लौट आता है। इसलिए हे राजन्! जहाँ हाथ नहीं पहुँच सकता वहाँ वाणी से बोलकर पता चला लेते हैं।'' जनक ने कहा, ''हाँ महाराज! है तो वैसा ही॥५॥

''अस्तमिते आदित्ये, याज्ञवल्क्य, चन्द्रमसि अस्तमिते; शान्ते अग्नौ, शान्तायां वाचि किं ज्योतिः एव अयं पुरुष?'' इति।''आत्मा एव अस्य ज्योतिः भवति''इति।''आत्मना एव अयं ज्योतिषा आस्ते पल्ययते कर्मकुरुते विपल्येति''इति॥६॥

जनक ने पूछा, ''जब सूर्य और चाँद छिप जाते हैं, आग बुझ जाती है और वाणी भी चुप हो जाती है तब किस ज्योति का सहारा लेता है?'' ऋषि ने उत्तर दिया, ''अपने आत्मा की ही ज्योति का। अपने आत्मा की ही ज्योति से बैठता है, चलता-फिरता है, कर्म करता है और लौट आता है''॥६॥

''कतम आत्मा?'' इति।

''यः अयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन् उभौ लोकौ अनुसंचरति ध्यायति इव लेलायति इव स हि स्वप्नः भूत्वा इमं लोकं अतिक्रामति मृत्योः रूपाणि''॥७॥

जनक बोले, ''वह आत्मा कौन-सा है?''

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, ''यह ज्ञान वाला, प्राणों में, हृदय में विराजमान है वही आत्मा है। यह है तो एक ही, परन्तु वही

एक दोनों लोकों में फिरता है, ध्यान करता है, खेलता-सा है और सोने की अवस्था में इस लोक को पार करके दुःखों से छूट जाता है'' ॥ ७ ॥

याज्ञवल्क्य ने सूर्य के प्रकाश से आरम्भ करके राजा जनक को समझ दिया कि मनुष्य साधारणतया बाहर के प्रकाश से काम लेता है, परन्तु असली प्रकाश तो आत्मा का ही है। वही आत्मा जब बाहर की इन्द्रियों से लगा रहता है तो उसकी वृत्तियाँ बाहर की ओर रहती हैं और वह संसार के दुःख-सुख का अनुभव करता रहता है, परन्तु जब सो जाता है तो बाहर का सम्बन्ध शिथिल हो जाने से बाहर के मृत्युरूपी दुःख भी सताना बन्द कर देते हैं। इसलिए आत्मा ही महान् है।

''स वा अयं पुरुषः जायमानः शरीरं अभिसंपद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥ ८ ॥

—बृहदारण्यक उपनिषत् ४।३।१-८

जब यह पुरुष जन्म लेता है तो शरीर धारण करते हुए पिछले जन्म के पापों के संस्कार लाता है। उन्हीं के भोग के लिए तो यह शरीर मिला है। इस जन्म में वह उन कर्मों का फल भोगता है। जो दुष्ट संस्कार उसके आत्मा में पड़ गये थे वह इस जन्म से छूट जाते हैं। इस जन्म का प्रयोजन ही यह है कि पुराने अशुभ संस्कार छूट जाएँ। जब वह इस शरीर को छोड़ता है तो पिछले जन्म के वह संस्कार धुल चुकते हैं। वह आत्मा इस शरीर में भेजा ही इसलिए गया था कि पुराने संस्कारों की बेठन जो आत्मा पर लिपटी हुई है उससे छुटकारा हो जाए। इस जन्म में जो कुछ दुःख का अनुभव होता है वह उस बेठन को छुड़ाता है। जैसे

बहुत मैले कपड़े पर ज्यों-ज्यों साबुन लगता जाता है उसका मैल कटता जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक दु:ख जो इस जन्म में होता है आत्मा के पुराने मैल को छुड़ाने का काम करता है। इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि शरीर में जो दु:ख मिलता है वह हमारे ऊपर अत्याचार है। जब किसी मैल से जकड़े हुए बच्चे को पकड़कर माता साबुन लगाती है तो बच्चा हाथ-पैर मारता और रोता है। वह समझता है कि उस पर अत्याचार हो रहा है, परन्तु माता का प्रयोजन मैल को काटना है। इसी प्रकार इस जन्म में हमको जो कष्टमय अनुभव होते हैं वह हमारी भलाई के लिए होते हैं। उनसे हमारा कुसंस्काररूपी मैल कटता जाता है और जब हम शरीर छोड़ते हैं तो उस मैल का बहुत बड़ा भाग धुल चुकता है। और यदि इस बीच में हम कुकर्म करके अन्य मैल नहीं लगा लेते तो हमारा भविष्य का जन्म बहुत अच्छा हो जाता है। यही है जीवन यात्रा का फल''॥ ८॥

आगे परलोक और उन दोनों के सम्बन्ध का वर्णन करते हैं।

[२२]

स्वप्न-अवस्था का वर्णन

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः इदं च परलोकस्थानं च। सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन् एते उभे स्थाने पश्यति इदं च परलोकस्थानं च। अथ यथाक्रमः अयं परलोकस्थाने भवति तं आक्रम्य आक्रम्य उभयान् पाप्मनः आनन्दान् च पश्यति स यत्र प्रस्वपिति अस्य

लोकस्य सर्वावतो मात्रां उपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति अत्र अयं पुरुषः स्वयं ज्योतिः भवति॥ ९॥

इस पुरुष के दो स्थान बतलाये गये हैं। एक इहलोक और दूसरा परलोक। बीच का तीसरा स्थान और है जिसको स्वप्न कहते हैं। यह स्वप्न स्थान वह है जहाँ से दोनों लोक दिखाई देते हैं। जैसे रात और दिन के बीच में सन्ध्या आती है और सन्ध्या में दिन की और रात की दोनों प्रतीतियाँ होती हैं, अर्थात् दिन का उजाला भी और रात का अन्धेरा भी। इसी प्रकार स्वप्न अवस्था में लोक का भी भान होता है और परलोक का भी, अर्थात् इस संसार की चीज़ों के संस्कार भी दिखाई देते हैं और परलोक की भी कुछ-कुछ अनिश्चित-सी प्रतीति होती है। आत्मा क्रमशः एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक उठता-सा है। आत्मा क्रमशः एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक उठता-सा है। कल्पना कीजिए कि एक निम्न स्थान से दूसरे निम्न स्थान में जाता है। कुछ चढ़कर एक पुल पर पहुँचते हैं जहाँ से दोनों स्थान दिखाई देते हैं इसी प्रकार सोने की अवस्था एक पुल की अवस्था है। यहाँ से जागृत् अवस्था भी दिखाई पड़ती है जिसमें संसार के अनुभवों का चित्र रहता है और परलोक की अवस्था भी प्रकट होती है। जब मनुष्य सो जाता है तो जाग्रत् के संसकारों को इकट्ठा करके उनसे नई चीज़ें बनाता है, बिगाड़ता है। अपने ही आप बनाता है। बाहरी चीज़ों की सहायता नहीं लेता। अपनी ही ज्योति से प्रकाशित होता है। सन्ध्याकाल में सूरज न था, परन्तु सूरज का उजाला था जो डूब-

सा रहा था। स्वप्न में भी बाह्य पदार्थ नहीं है उनकी प्रतीति है जो विलायमान-सी होती जाती है। कुछ है अवश्य, परन्तु धुँधला-सा है। यही सन्धि है लोक और परलोक की। दुःख भी दिखाई पड़ते हैं और सुख भी, परन्तु अपनी असली हालत में नहीं, किन्तु आभास-सा होता है। इसी को आगे के उदाहरण से स्पष्ट करते हैं॥ ९ ॥

न तत्र रथा न रथयोगाः न पन्थानः भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते। न तत्र आनन्दा मुदः प्रमुदः भवन्ति अथ आनन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्तः पुष्करिण्यः स्त्रवन्त्यः भवन्ति अथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्त्रवन्तीः सृजते। स हि कर्त्ता॥ १० ॥

स्वप्न में रथ या उसके घोड़े या मार्ग नहीं होते, परन्तु जाग्रत् अवस्था में जो रथ आदि का अनुभव किया था उन्हीं के प्रसुप्त संस्कारों की सहायता से वह रथ आदि को बना लेता है। आनन्द प्रमोद की सामग्री नहीं होती, परन्तु जाग्रत् अवस्था में भोगे हुए आनन्द प्रमोद की सोई हुई चेतना रहती है उसी की सहायता से आनन्द प्रमोद की चीज़ें बन जाती हैं। सरोवर, झीलें या नदियाँ नहीं होतीं, परन्तु जाग्रत् अवस्था में देखे हुए सरोवर आदि के संस्कार रहते हैं, उन्हीं के सहारे सरोवर आदि बनाता है। मानो वही कर्त्ता है जैसे चित्रकार सृष्टि की चीज़ों का अवलोकन करके नये-नये चित्र बनाता है। इसी प्रकार सोने वाला भी स्वप्न में उन-उन चीज़ों का निर्माण करता है। चित्रकार के मन:पटल पर अवलोकित वस्तुओं का ज्ञान है। उसी ज्ञान से वह नये-नये चित्रों का निर्माण करके उनका कर्त्ता

बनता है। जाग्रत् अवस्था के संस्कार ताना-बाना हैं और उन्हीं के द्वारा स्वप्न में देखी हुई चीज़ों के वस्त्र बुने जा रहे हैं।

स्वप्नेन शारीरं अभिप्रहति आसुप्तः सुप्तान् अभिचाकशीति। शुक्रं आदाय पुनः एति स्थानं हिरण्यमयः पुरुषः एक हंसः ॥ ११ ॥

प्राणेन रक्षन् अवरं कुलायं बहिष्कुलायाद् अमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्यमयः पुरुषः एक हंसः ॥ १२ ॥

स्वप्नान्त उच्चावचीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि। उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥

आरामं अस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन इति। तम् न आयतं बोधयेद् इति आहुः। दुर्भिषज्यं ह अस्मै भवति यं एष न प्रतिपद्यते अथो। खलु आहुः जागरितदेश एव अस्य एष इति यानि हि एव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्त इति अत्र अयं पुरुषः स्वयं ज्योतिः भवति। सोऽहं भगवते सहस्त्रं ददामि अतः ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि इति ॥ १४ ॥

—बृहदारण्यक-उपनिषत् ४।३।९-१४

इसी विषय में कुछ श्लोक हैं—

१. जीवात्मा स्वप्न में शरीर को निश्चेष्ट (चेतना शून्य) कर देता है। वह स्वयं नहीं सोता, परन्तु सुप्त इन्द्रियों की देखभाल रखता है। वह बीज शक्ति को फिर एकत्रित करके फिर जागता है। वह प्रकाशमय और एक हंस है। हंस इसलिए कहा कि गति का मुख्य स्रोत वही है।

२. वही हंस और प्रकाशमय जीवात्मा अपने आधीन शरीररूपी घोंसले की प्राण द्वारा रक्षा करता है, अर्थात् सोने की

अवस्था में जब सब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं तब भी प्राण चलता रहता है। वह आत्मा अपने कामनारूपी जगत् में इधर-उधर उसी प्रकार फिरता रहता है जैसे पक्षी अपने घोंसले से इधर-उधर फिरता हुआ फिर लौट आता है। स्वप्न के समय आत्मा जिस जगत् में भ्रमण लगाता है वह उसका कामनारूपी जगत् है। वास्तविक बाह्य जगत् नहीं। यदि प्रयाग में सोता हुआ मैं कलकत्ते का स्वप्न देखता हूँ तो वस्तुतः मैं असली कलकत्ते में जाता नहीं, अपितु मेरा वह कामना जगत् का कलकत्ता है॥ १२ ॥

यह सोता हुआ जीवात्मा स्वप्न के भीतर से ऊँच-नीच रूपों को बनाया करता है। कभी स्त्रियों के साथ मोद-प्रमोद करता है कभी डरावनी चीज़ों से भयभीत होता है॥ १३ ॥

लोग देखते हैं कि वह आराम से सो रहा है। उसको वस्तुतः कोई नहीं देखता। उसकी ऊपरी दशा को देखते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि सोते हुए को अचानक न जगाना चाहिए, क्योंकि जिस-जिस इन्द्रिय-केन्द्र में वह नहीं पहुँच पाता उस इन्द्रिय केन्द्र में ऐसा विकार हो जाता है कि उसकी चिकित्सा कठिन हो जाती है। लोगों का ऐसा अनुभव है कि एकाएकी जगा देने से शारीरिक हानि होती है। कुछ लोगों का मत है कि जीवात्मा स्वप्न में जिस जगत् में भ्रमण करता है वह वस्तुतः जाग्रत् अवस्था में अनुभूत किया हुआ देश ही होता है, जिस-जिस चीज़ को जाग्रत् अवस्था में देखा था उसी को स्वप्न में भी देखता है। उस समय यह आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है, क्योंकि वह संस्कार जो बाहर से प्राप्त हुए थे अब भीतर ही

विद्यमान होते हैं। उनके लिए उसे बाहर जाना नहीं पड़ता ॥ १४ ॥

इस प्रकार स्वप्न की व्यवस्था सुनकर राजा जनक बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे, ''महाराज! आपकी सेवा में एक हज़ार गाएँ दक्षिणा रूप में प्रस्तुत हैं, परन्तु यह तो केवल स्वप्न का ही हाल मालूम हुआ। इतना तो मोक्ष के लिए पर्याप्त नहीं है। कुछ और उपदेश दीजिए'' ॥ १४ ॥

स्वप्न को लोक-परलोक की सन्धि कहा गया है, क्योंकि इससे यह पता चलता है कि जीवात्मा शरीर से इतर एक स्वयं ज्योति है। इसी के द्वारा यह बाह्य इन्द्रियाँ भी ज्योति प्राप्त करती है, परन्तु शरीर छोड़ने के पश्चात् जीव की क्या दशा होती है यह तो शेष रह गया। इसलिए जनक याज्ञवल्क्य से और उपदेश करने के लिए प्रार्थना करते हैं।

[२३]

सुषुप्ति का वर्णन

याज्ञवल्क्य और उपदेश करते हैं—

तद् यथा अस्मिन् आकाशे श्येनोवा सुपर्णोवा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ सल्लयायैव ध्रियते एवं एव अयं पुरुषः एतस्मै अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति॥ —बृह० ४।३।१९

''अब तक स्वप्न का वर्णन हुआ। अब सुषुप्ति का वर्णन है। इसको एक दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। जैसे बाज़ या गरुड़ आकाश में उड़ता-उड़ता थक जाता है तो अपने पङ्खों को समेटकर अपने घोंसले की ओर चलता है। इसी प्रकार यह जीव

हंस जाग्रत् और स्वप्न में दौड़ता-दौड़ता इतना थक जाता है कि गहरी नींद अर्थात् सुषुप्ति को प्राप्त हो जाता है। यह वह अवस्था है जिसमें न तो कुछ कामना ही कर पाता है न स्वप्न देख पाता है।'' इस अवस्था में जाग्रत् अवस्था का कोई चिह्न भी शेष नहीं रहता। अब तक बाह्य विषय संस्कार रूप में तो उपस्थित थे। अब वह भी नहीं रहते। अब तो घोर निद्रा है। यह शरीरस्थ जीव की अन्तिम अवस्था है। यह वह अवस्था है जिसमें शरीर में होते हुए और शरीर की देखभाल रखते हुए भी जीव शरीर के बन्धनों से मुक्त जैसा है। यह भी लोक और परलोक की सन्धि है, परन्तु इसको सन्धि का अन्त कहना चाहिए। या यों कह सकते हैं कि इस लोक में परलोक की छाया पड़ती है। जैसे पृथ्वी के ऊपर तालाब में सूर्य या आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है। वस्तुतः प्रतिबिम्ब जो दिखाई देता है पृथ्वी के ही ऊपर है, परन्तु है यह आकाश का प्रतिबिम्ब। इसको पार्थिव इसलिए नहीं कहते कि सूर्य का प्रतिबिम्ब है और आकाश का इसलिए नहीं कह सकते कि आकाश में न होकर पृथ्वी पर है, परन्तु है यह बीच का चीज़। इसी प्रकार सुषुप्ति एक बींच की चीज़ है। जीव शरीरस्थ अवश्य है, परन्तु शरीर के दुःख-सुख से छूटा हुआ है। शरीरस्थ जीव की अवस्था होने के कारण यह लौकिक है, परन्तु शारीरिक दुःख-सुख से छूटा हुआ होने के कारण यह पारलौकिक है। कठिन-से-कठिन पीड़ा से सन्तप्त हुआ मनुष्य जब सो जाता है तो दुःख से निवृत्त हो जाता है। मानो इसी लोक में पारलौकिक आनन्द ले रहा है। इसीलिए सुषुप्ति को मुक्ति के तुल्य अथवा मुक्ति की छाया कहा

है।

अत्र पिता अपिता भवति माता अमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा। अत्र स्तेनो अस्तेनो भवति भ्रूणहा अभ्रूणहा चाण्डालो अचाण्डाल: पौल्कसो अपौल्कस: श्रमणो अश्रमण: तापसो अतापस:। अनन्वागतं पुण्येन अनन्वागतं पापेन। तीर्णोहि तदा सर्वान् शोकान् हृदयास्य भवति।

—बृह० ४।३।२२

इस अवस्था में पिता पिता नहीं रहता, माता माता नहीं, लोक लोक नहीं, देव देव नहीं, वेद वेद नहीं, चोर चोर नहीं, भ्रूणहत्या वाला भ्रूणहत्या वाला नहीं, चाण्डाल चाण्डाल नहीं, दुष्ट दुष्ट नहीं, संन्यासी संन्यासी नहीं, तपस्वी तपस्वी नहीं रहता। इस समय न पाप से लिप्त है न पुण्य से। इस समय तो हृदय के सभी शोकों से तर जाता है।

यद् वा एतद् न पश्यति पश्यन् वै तत् न पश्यति न हि द्रष्टुः दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात् न तु तद् द्वितीयम् अस्ति ततो अन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्॥ २३॥

यत्र वा अन्यद् इव स्यात् तत्र अन्योऽन्यत् पश्येत् अन्यो अन्यद् जिघ्रेद् अन्योऽन्यद् रसयेद् अन्यो अन्यद् वदेत् अन्योऽन्यत् श्रुणुयाद् अन्यो अन्यत् मन्वीत अन्यो अन्यत् स्पृशेद् अन्यो अन्यद् विजानीयात्॥ ३०॥ —बृहद० ४।३।२३, ३०

सुषुप्ति अवस्था में यह बात नहीं कि आत्मा देखता न हो, अर्थात् उसके देखने की शक्ति नष्ट हो गई हो। आत्मा तो अविनाशी है उसकी शक्तियाँ भी अविनाशी हैं। उनका लोप हो ही कैसे सकता है? परन्तु बात यह है कि सुषुप्ति अवस्था में

वह अकेला ही तो होता है। उसका सम्बन्ध दूसरी चीज़ों से सर्वथा कट जाता है। उससे दूसरी कोई चीज़ होती ही नहीं जिसको वह देख सके॥ २३॥

यदि संसार में केवल आँख ही हो और अन्य कोई वस्तु न हो तो आँख देखने की शक्ति रखती हुई भी किसको देखेगी? जहाँ दूसरा होता है वहाँ दूसरा दूसरे को देखता है। दूसरा-दूसरे को सूँघता है, दूसरे को चलाता है, दूसरे से बात करता है, दूसरा दूसरे को सूँघता है। दूसरा दूसरे का विचार करता है। दूसरा दूसरे को छूता है। दूसरा दूसरे को जानता है॥ ३०॥

परन्तु सुषुप्ति अवस्था में तो आत्मा का सम्बन्ध किसी से रहता ही नहीं अकेला ही रहता है, अतः उसकी यह सब क्रियाएँ भी बन्द हो जाती हैं।

स वा एष एतस्मिन् स्वप्नांते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वा एव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति बुद्धांताय एव॥ ३४॥

वह जीवात्मा स्वप्न में रमण करता और विचरता हुआ अपने पुण्य या पापरूप संस्कारों को देखकर फिर जिस प्रकार जाग्रत् से स्वप्न और स्वप्न से सुषुप्ति में गया था उसी प्रकार फिर लौटकर जाग्रत् अवस्था को प्राप्त हो जाता है। स्वप्न में उसको वही पुण्यरूप या पापरूप संस्कार दीखते हैं जिनको उसने जाग्रत् किया था। व्यभिचारी लोग स्वप्न में व्यभिचार देखते हैं। खिलाड़ी लड़के खेल का ही स्वप्न देखते हैं। एक पुण्य काम करने वाला अपनी उन्हीं पुण्यमय वासनाओं को देखता है। इसलिए आवश्यक है कि अपने अच्छे संस्कार बनाने चाहिए।

मनुष्य के स्वप्नों को देखकर बता सकते हैं कि मनुष्य का चाल-चलन कैसा है, क्योंकि जो विचार जागते समय होते हैं उनकी चेतनाएँ प्रसुप्त रूप में अन्तःकरण में रहती हैं और उनका उद्बोधन हो सकता है॥ ३४॥

[२४]

मृत्यु

तद् यथा अनः सुसमाहितम् उत्सर्ज्जद् यायाद् एवं एव अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेन आत्मना अन्वारूढ उत्सर्जद् याति एतद् ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवति॥ —बृहद० ४।३।३५

जब प्राणी प्राण छोड़ता है तो उसका श्वास ऊँचा चलने लगता है। जैसे कोई भारी बोझ से लदी हुई गाड़ी चीं-चीं-चीं-चीं करती चलती है। इसी प्रकार यह शरीरस्थ आत्मा अपने संस्कारों से ज्ञान से लदा हुआ दुःखित होकर निकलता है, क्योंकि मरने के समय मनुष्य को जीवनकाल में किये हुए पुण्य और पापों का स्मरण हो आता है और पापों का विचार करके दुःखित होता है। पाप भार रूप हैं। उनसे यात्रा में कष्ट होता है। इसलिए मनुष्य को विचारना चाहिए कि पाप न करे। युवावस्था में पाप सताते नहीं। उस समय तो मनुष्य पापों से आनन्द लेता है, क्योंकि उस समय उसे शक्ति का नशा रहता है, परन्तु जब मृत्यु का समय आता है तो वही स्मृतियाँ उसको भयभीत करती हैं।

स अत्र अयं अणिमानं न्येति जरया बा उपतपता वा अणिमानं निगच्छति यद् यथा आम्रं वा उदुम्बरं वा पिप्पलं वा

बन्धनात् प्रमुच्यते एवं एव अयं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रति न्यायं प्रतियोनि आद्रवति प्राणाय एव।

—बृहद० ४।३।३६

जब मनुष्य बुढ़ापे से या किसी रोग से अति क्षीण हो जाता है तो जैसे आम, उदुम्बर या पीपल का फल बन्धन से छूटकर गिर पड़ता है ऐसे ही यह आत्मा इस शरीर के अङ्गों से छूटकर पुनः अपने कर्मों या संस्कारों के अनुसार प्राणों के लिए दौड़ता है, अर्थात् अपने कर्मों के अनुसार योनि तलाश करता है।

तद् यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यो अभि समायन्ति एवं एव इमं आत्मानं अन्तकालो सर्वेप्राणा अभिसमायन्ति यत्र एतद् ऊर्ध्वच्छ्वासी भवति॥

—बृहद० ४।३।३८

जैसे जब कोई राजा जाने लगे तो उसके कर्मचारी उसके चारों ओर इकट्ठे हो जाते हैं कि राजा जी जा रहे हैं, उनसे अन्तिम नमस्ते कर लेवें। इसी प्रकार अन्तकाल में सब प्राण इकट्ठे होकर आत्मा के चारों ओर घिर आते हैं कि यह हमारा स्वामी जा रहा है। इसलिए इसका श्वास ऊपर को चलने लगता है।

इस उपमा से याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को समझाया है कि जीवात्मा जब मरने लगता है तो समस्त शरीर को छोड़ता है और शरीर के अङ्ग शिथिल हो जाते हैं। आत्मा भी अपने संस्कारों के अनुसार ही अपनी योनि खोजता है। जैसे जिसके संस्कार होते हैं वैसी ही उसकी रुचियाँ भी होती हैं और रुचियों के अनुसार ही उसको चीज़ों की खोज होती है। जैसे यदि कोई शराबी किसी नगर में जावे तो शराबियों की संगति को तलाश

करता है और यदि कोई विद्वान जावे तो विद्वान की ही। इसी प्रकार जो आत्मा आयु भर पुण्य करता रहा उसके संस्कार भी उच्च हो गये। उसकी कामनाएँ भी विशद हो गईं और मरने के पीछे उसको अच्छी योनि की ही तलाश रहती है, परन्तु जो पापी है उसकी वासनाएँ भी पापमय होती हैं और वह मरने के उपरान्त भी ऐसी ही योनियों की तलाश करता है और खोजनेवाले को साथी भी मिल ही जाते हैं। उसका आशय अगले ब्राह्मण में स्पष्ट किया है—

तद् यथा राजानं आयान्तं उग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यो अन्नैः पानैः आवसथैः प्रतिकल्पन्ते अयं आयाति अयं आगच्छति इति एव ह एवं विदंसर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्ते इदं ब्रह्म आयाति इदं आगच्छति इति। —बृहद० ४।३।३७

जैसे जब कोई राजा आता है तो कर्मचारी इकट्ठे होकर अनेक प्रकार से उसका सत्कार करते हैं और कहते हैं, "वह आये, वह आये।" इसी प्रकार जब मनुष्य मरता है तो समस्त भोग उसकी प्रतिक्षा में प्रस्तुत होते हैं कि हमारा भोक्ता और कर्त्ता आता है।

नोट—इदं ब्रह्म आयाति का अर्थ श्री शङ्कर स्वामी ने यह किया है—

इदं ब्रह्म भोक्तकर्त चास्माकमायाति तथे दमागच्छतीत्येवमेव च कृत्वा प्रतीक्षन्त इत्यर्थः॥

—देखो बृहदारण्यक उपनिषद् का शाङ्कर भाष्य

तात्पर्य यह है कि संसार के भोगों और उपकरणों की कमी नहीं है, परन्तु मरने वाला जैसे संस्कार पिछले जन्म में बनाकर

चलता है उसी के अनुसार उसकी प्रवृत्ति होती है और उसी के अनुसार उसको अगली योनि मिलती है। हमारे भावी जन्म के माता-पिता अपने कर्मों के अनुसार हमारे लिए एक योनि तैयार करते हैं और ईश्वर के नियमों की व्यवस्था के अनुसार उस योनि में वह जीव आते हैं जो उस योनि के योग्य होते हैं। इसको एक दृष्टान्त से समझिए। कल्पना कीजिए कि एक नगर में कई प्रकार के स्कूल हैं। एक आरम्भिक, दूसरा माध्यमिक, तीसरा उच्च कक्षा का, एक गणित का, दूसरा सङ्गीत का, तीसरा कृषि का आदि। इन भिन्न-भिन्न स्कूलों के सञ्चालक प्रतीक्षा करते हैं कि आने वाले विद्यार्थियों का स्वागत करेंगे। इन स्कूलों में वही विद्यार्थी आएँगे जिनकी योग्यता और रुचि उन स्कूलों के अनुकूल हो और उसी प्रकार के विद्यार्थी वहाँ लिये जाएँगे। एक सङ्गीत की प्रवृत्ति वाला न तो कृषि के स्कूल को तलाश करेगा और न कृषि के स्कूल वाले उसकी प्रतीक्षा अथवा उसका स्वागत करेंगे। इसी प्रकार हमारी भविष्य की योनि कैसी होगी इसका निश्चय हमारी उन प्रवृत्तियों से होता है जो हम उस जन्म में बनाते हैं और हमारे घर में वैसे ही आत्मा आकर जन्म लेते हैं जिनके अनुकूल हमने शारीरिक अथवा पारिवारिक परिस्थिति बनाई हुई है। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यदि हमारे संस्कार बुरे होंगे तो दूसरे जन्म में हमको निकृष्ट योनि मिलेगी और दूसरे यदि हमारे संस्कार बुरे होंगे तो सन्तान रूप से हमारे घर में वही आत्माएँ जन्म लेंगी जिनके आचरण तदनुकूल रहे होंगे। यदि कोई राजा कहीं जाए तो उसके ठहराने के लिए महलों में प्रबन्ध किया जाता है और यदि भिखारी जाए तो उसी के

पद के अनुसार झोंपड़ी में। इसी प्रकार राजमहल राजों के लिए बनाए जाते हैं और झोंपड़ियाँ भिखारियों के लिए। कुचेष्ट माता-पिता जो शरीर बनाएँगे उनमें उच्च आत्माएँ कैसे जन्म लेंगी? और उच्च संस्कारों में जीवन व्यतीत करते हुए माता-पिता जो शरीर बनाएँगे उनमें निकृष्ट आत्माएँ कैसे प्रवेश पा सकेंगी?

सप्तम आह्निक—परमपद

[२५]

सब प्रगतियों का आधार सुख है!

''अधीहि भगव'' इति ह उप ससाद सनत्कुमारं नारदः। तं ह उवाच, ''यद् वेत्थ तेन मा उपसीद ततस्त ऊदर्ध्वं वक्ष्यामि'' इति॥ १ ॥

नारद ने सनत्कुमार ऋषि के पास जाकर कहा, ''भगवन्! मुझे उपदेश दीजिए।'' सनत्कुमार ने कहा, ''जितना तुमने पढ़ा है उतना बता दो तो उससे आगे बताऊँ।''

स ह उवाच ''ऋग्वेदं भगव अध्येमि यजुर्वेदं सामवेदं अथर्वणं चतुर्थं इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं प्रित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यं एकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूत-विद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां एतद् भगवोऽ-ध्येमि॥ २२ ॥

सोऽहं भगवो मन्त्रविद् एव अस्मि न आत्मवित्। श्रुतं हि एव मे भगवद्दृशेभ्यः तरति शीकं आत्मवित् इति। सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु'' इति॥

—छान्दोग्य उप० ७।१।१-३

नारद ने उत्तर दिया, ''मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद पढ़ा है, इनके अलावा इतिहास पुराणरूप पाँचवाँ वेद, वेदों का वेद व्याकरण, पितृ-विद्या (सन्तानोत्पत्ति की विद्या

Eugenics), गणित, दैवविद्या (Climatology या ऋतुओं की विद्या), निधि विद्या अर्थात् अर्थशास्त्र (Economics), वाकोवाक्य अर्थात् तर्कशास्त्र (Logic), देवविद्या (Metaphysics), भूतविद्या (Natural science), क्षत्रविद्या (Military science), नक्षत्रविद्या (Astronomy) सर्पविद्या और नृत्य सङ्गीत आदि भी जानता हूँ। यह सब तो मैं जानता हूँ'' ॥ २ ॥

इस संवाद में एक बड़ी भारी सचाई का उपदेश है। नारद सब पुस्तकें पढ़ा हुआ है, परन्तु उसका शोक दूर नहीं हुआ। उसका आत्मा अपढ़ पुरुषों के समान ही दुःखित है। वह कहता है ''मैं मन्त्रवित् हूँ, आत्मवित् नहीं'', अर्थात् मैंने पुस्तकें तो रट ली हैं, परन्तु मेरे आत्मा पर सचाई का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

इसी प्रकार संसार में पुस्तकें पढ़ने वाले सहस्रों मनुष्य हैं जो नाम मात्र के पढ़े हुए हैं तत्त्वदर्शी नहीं। इससे उनके आत्मा को कोई शान्ति नहीं मिली। ऐसी विद्या से कोई लाभ नहीं। ऐसी कथा सुनने से कोई लाभ नहीं। गुड़-गुड़ कहने से मुँह मीठा नहीं होता और मिर्च-मिर्च कहने से मुँह कड़वा नहीं होता। ऐसे वेद पढ़ने से भी क्या लाभ? ऋग्वेद में स्वयं लिखा है—

यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति।

''जिसने तत्त्व को नहीं पहचाना वह ऋग्वेद के पढ़ने से क्या लाभ उठा सकता है?'' संसार में ईश्वर नाम के जपने की बहुत बड़ी महिमा बताई है। बहुत-से लोग अनाज तौलते जाते हैं और माला जपते जाते हैं। बहुत-से जोर-जोर से ईश्वर का नाम ले-

लेकर चिल्लाया करते हैं, परन्तु यदि वे अपने मनों को टटोलें तो उनके भीतर कोई प्रकाश प्रतीत नहीं होता। सनत्कुमार नारद को उत्तर देते हैं—

''**यद्वै किच एतद् आध्यागीष्ठाः, नाम एव एतत्।**''

''तुम यह जो पुस्तकें गिना गए, यह तो नाम ही हैं।''

नारद स्वीकार करते हैं कि इससे उनका आत्मा शोकरहित नहीं हुआ। शोक उनको उसी प्रकार सता रहा है। ऐसी विद्या, ऐसी कथा, ऐसे उपदेश से क्या लाभ? मन्त्रवित् होने से कोई लाभ नहीं जब तक मनुष्य 'आत्मवित्' न हो!

बृहदारण्यक उपनिषत् में एक प्रार्थना है—

असतो मा सद् गमयः, तमसो मा ज्योतिर्गमयः,

मृत्योः मा अमृतं गमयः।

मुझे असत् से छुड़ाकर सत् की ओर ले जाइये, अन्धकार से छुड़ाकर प्रकाश की ओर ले जाइए और मृत्यु से छुड़ाकर अमृत की ओर ले जाइए।

वस्तुतः असत् ही अन्धकार है। वही मृत्यु है। सत् ही प्रकाश है, वही अमृत है। अतः सत्य का सङ्कल्प करके सत्य आचरण ही सब पठन-पाठन का परम उद्देश्य है। सत्य के आचरण की महिमा सनत्कुमार जी बताते हैं—

''**यदा वै विजानाति अथ सत्यं वदति, न अविजानन् सत्यं वदति, विजानन् ऐव सत्यं वदति। विज्ञानं तु एव विजिज्ञासि-तव्यम्'' इति। ''विज्ञानं हि भगवो विजिज्ञासे'' इति॥**

''हे नारद! जिस समय पुरुष सत्य को विशेष रूप से जानता है तभी सत्य बोल सकता है। बिना विशेष ज्ञान के सत्य बोल

नहीं सकता। इसलिए सत्य का विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।''

नारद ने कहा, ''भगवन्! मैं सत्य के इस विशेष ज्ञान को ही प्राप्त करना चाहता हूँ। मुझे समझाइए।''

''यदावै मनुतेऽथ विजानाति, न अमत्वा विजानाति, मत्वा एव विजानाति। मतिः तु एव विजिज्ञासितव्या'' इति।

''मतिं भगवो विजिज्ञासे'' इति।

''हे नारद! जिस समय मनुष्य मनन करता है तभी विशेष ज्ञान की प्राप्ति होती है। विना मनन किये ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। इसलिए मनन करना सीखना चाहिए।''

नारद ने कहा, ''महाराज मैं मनन करने के लिए उत्सुक हूँ, समझाइए।''

''यदा वै श्रद्दधाति अथ मनुते न अश्रद्दधन् मनुते। श्रद्दधद् एव मनुते श्रद्धा तु एव विजिज्ञासितव्या'' इति।

''श्रद्धा भगवो विजिज्ञासे'' इति॥ १९॥

सनत्कुमार बोले, ''देखो नारद! श्रद्धा से ही मनन होता है, विना श्रद्धा के मनन नहीं हो सकता, अतः श्रद्धा को समझना चाहिए।''

नारद ने कहा, ''महाराज! मैं श्रद्धा को ही समझना चाहता हूँ। कृपा करके समझाइये।''

''यदा वै निस्तिष्ठति अथ श्रद्दधाति न अनिस्तिष्ठन् श्रद्दधाति। निस्तिष्ठन् एव श्रद्दधाति। निष्ठा तु एव विजिज्ञासितव्या'' इति।

''निष्ठां भगवो विजिज्ञासे'' इति॥ २०॥

''देखो नारद, विना निष्ठा के श्रद्धा नहीं होती। श्रद्धा निष्ठा

इति आचक्षते हस्ति हिरण्यं दासभार्ये क्षेत्राणि आयतनानि इति। न अहं एवं ब्रवीमि, ब्रवीमि'' इति ह उवाच, 'अन्यो हि अन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः'' इति॥ —छान्दोग्य उपनिषत् ७।२४

सनत्कुमार भूमा के लक्षण करते हैं, ''वह भूमा है जिसमें अन्य को नहीं देखता, अन्य को नहीं सुनता, अन्य को नहीं जानता। वह अल्प है जहाँ अन्य को देखता है, अन्य को सुनता है, अन्य को जानता है। भूमा ही अमृत है। अल्प ही दुःख है।''

नारद ने प्रश्न किया, ''महाराज! वह भूमा किसके आश्रय से ठहरा हुआ है?''

''अपनी महिमा में ठहरा हुआ है, या यों कहना चाहिए किसी के आश्रय नहीं। संसार में महिमा का अर्थ लेते हैं गाय, घोड़े, हाथी, सोना, नौकर, चाकर, स्त्री, खेत, बाग़ आदि। मैं इसको महिमा नहीं कहता, क्योंकि यहाँ तो एक-दूसरे के ऊपर प्रतिष्ठित है। यह महिमा कैसी है?''

सनत्कुमार ने भूमा का जो अर्थ यहाँ किया है उसको सर्वसाधारण के लिए स्पष्ट करना चाहिए। एक मनोवृत्ति को 'भूमा' कहा और दूसरी को 'अल्प'। 'भूमा' को अमृत बताया और 'अल्प' को दुःख। प्रत्येक मनुष्य की मनोवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो परम उद्देश्य का विचार और दूसरा उद्देश्य को छोड़कर भिन्न-भिन्न साधनों का विचार। साध्य के लिए साधन हैं। साधन के लिए साध्य नहीं। यदि साध्य के ऊपर दृष्टि रक्खी जाए तो साधनों को साध्य की दृष्टि से देखा जाए तो यह **'भूमा'** है और यदि साध्य की उपेक्षा करके प्रत्येक साधन को साध्य मानकर चला जाए तो यह 'अल्प' दृष्टि है। साध्य को

दृष्टि में रखकर जो साधन देखे जाते हैं वे सुखकर होते हैं और यदि साध्य की उपेक्षा करके साधन देखे जाते हैं तो वे दुःखकर होते हैं। साध्य एक होता है और साधन बहुत से, परन्तु जब साध्य पर दृष्टि होती है तो साधन अनेक होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध और एक ही जैसे दिखाई पड़ते हैं। यह है 'भूमापन'। इसको आप 'विश्व दृष्टि' कह सकते हैं, यही अमृत है, परन्तु जब परम उद्देश्य या साध्य भुला दिया जाता है तो भिन्न-भिन्न साधन ही एक-एक करके साध्य बन जाते हैं, उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वह नाना प्रतीत होते हैं। विश्वदर्शी या वह मनुष्य जिसकी दृष्टि साध्य पर है साध्य को छोड़कर अन्य किसी को न देखता है, न सुनता है, परन्तु साध्य को भूलने वाला प्रत्येक साधन को अलग-अलग देखता है।

इसको एक उदाहरण से देखिए, कल्पना कीजिए कि आपको हरिद्वार जाना है। यह है एकमात्र उद्देश्य आपकी यात्रा का। इसके लिए साधन चाहिए, धन, ताङ्गा, रेल, वस्त्र, मनोविनोद की चीज़ें आदि। अब यदि आप की भूमा मनोवृत्ति है तो आपकी दृष्टि हरिद्वार पर है। वहीं पहुँचना है, अतः धन भी वही चाहिए जो हरिद्वार पहुँतने में साधक हो सके। ताङ्गा भी वैसा ही, रेल भी वही जो हरिद्वार ले जा सके, वस्त्र भी वही जिनकी मार्ग में आवश्यकता हो, अब आपको धन, गाड़ी, वस्त्र, नौकर-चाकर सभी में हरिद्वार दीखता है। वे सब चीज़ें उसी उद्देश्य के लिए हैं। कल्पना कीजिए कि आपको हरिद्वार जाने के लिए धन चाहिए, यदि आपको कोई चार हज़ार का प्रोमेसरी नोट दे देवे तो आप कहेंगे, "इसकी आवश्यकता नहीं, प्रोमेसरी नोट

से टिकट नहीं खरीद सकते, इस समय तो बीस रुपये या बीस रुपये का करेंसी नोट चाहिए, क्योंकि हरिद्वार जाना है। यदि इस समय कोई आपको उत्तम-उत्तम भोज्य पदार्थों के खाने का निमन्त्रण दे तो आप कहेंगे, ''नहीं, नहीं, हमको तो उतना ही चाहिए जो मार्ग में पर्याप्त हो सके''।

परन्तु इसके विपरीत अगर आप तुच्छदर्शी हैं तो यात्रा का परम उद्देश्य आपके सम्मुख नहीं है। आप धन को धन समझते हैं न कि हरिद्वार जाने का साधन, अतः हरिद्वार का ध्यान छोड़कर उस धन में फँस जाते हैं। यह अल्पदर्शिता है और यही दुःख का कारण है। इसका यह अर्थ नहीं कि साधनों की उपेक्षा की जाए, क्योंकि विना साधनों के साध्य तक नहीं पहुँच सकेंगे, अर्थ केवल इतना है कि साधनों को साध्य न समझ लिया जाए। संसार में जितने प्रकार के दुःख हैं उनका कारण यही अल्पदर्शिता है। क्या धन दुःख का हेतु है? यदि है तो 'धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष' इन चारों में 'अर्थ' अर्थात् धन को क्यों स्थान दिया गया?

क्या विना धन के एक मिनट भी कट सकता है?

कदापि नहीं, परन्तु यही धन दुःख का कारण भी है, जब धन को साधन न समझकर साध्य समझ लिया जाए। धन से किनको दुःख होता है और किनको सुख? जो धन को स्वास्थ्य या परोपकार का साधन समझते हुए उसको उसी उद्देश्य की पूर्त्ति में लगाते रहते हैं उनको धन सुखकारी ही होता है, दुःखकारी कभी नहीं होता। अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र, अच्छा मकान बनाने में जो धन व्यय होता है वह सुख का साधन ही

है और जो धन दूसरों के सुख का सम्पादन करने में लगा दिया जाता है जैसे विद्यालय, अनाथालय आदि। उससे देनेवाले को भी आनन्द होता है और दूसरों को भी। ऐसे पुरुष को कौन मारने का यत्न करेगा? उसके मारने से किसी को क्या लाभ? परन्तु यदि धन को साध्य समझकर जोड़ा जाए तो धन धन ही नहीं रहता। कञ्जूस धन जोड़ता है और खाना नहीं खाता। इकट्ठा करता जाता है और किसी को देता नहीं। इसलिए लोग उसको बुरा कहते हैं अथवा चोर-डाकू आदि उसके पीछे लग लेते हैं। यह हुआ एक दृष्टान्त। इसी प्रकार संसार में बहुत-से छोटे-छोटे उद्देश्य या साध्य हैं जिनके अपने-अपने साधन हैं, परन्तु जीवन का एक मुख्य या परम उद्देश्य है। वह है आत्मा को समझकर उसकी उन्नति करना। जो इस उद्देश्य पर दृष्टि रखता है उसकी भूमा मनोवृत्ति है। वह संसार के प्रत्येक साधन में "आत्मा" को ही देखता है। जिसमें आत्म-उन्नति नहीं होती उसे दो कौड़ी का समझकर त्याग देता है। जिसमें उन्नति होती है उसको उस समय तक ग्रहण करता है जब तक उससे आत्म-उन्नति में सहायता मिलती है। यदि धन के कमाने में उसे छल-कपट करना पड़े तो वह न करेगा, क्योंकि माना कि छल-कपट से धन पुष्कल मिल जाए, परन्तु आत्महानि जो होगी। क्षणिक या अल्प लाभ के लिए बड़े लाभ को कौन त्यागे? परन्तु जो अल्पदर्शी है उसकी दृष्टि आत्म-उन्नति पर नहीं है। उसे धन प्यारा है चाहे छल से मिले चाहे कपट से। गाय, घोड़े, धन, धान्य, नौकर, चाकर सभी की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु वे सब उसी समय तक ग्राह्य हैं जब तक वे परम उद्देश्य अर्थात्

आत्मोन्नति के सहायक हों, क्योंकि आत्मोन्नति में ही उन सबकी प्रतिष्ठा है। सनत्कुमार जी कहते हैं कि साधारण लोग एक साधन को दूसरे साधन की दृष्टि से देखते हैं, इसलिए एक की प्रतिष्ठा दूसरे पर होती है, परन्तु भूमा-दृष्टि में भूमा स्वयं अपने में ही प्रतिष्ठिंत है। वह सब आधारों का आधार है। परम उद्देश्य का अन्य कोई उद्देश्य नहीं। या तो यह कहो कि इसकी यह स्वयं ही महिमा है या यों कहो कि इसकी महिमा कोई नहीं। बात एक ही है, कहने के रूप दो हैं। इसी को आगे समझाते हैं—

[२७]

आत्म-उन्नति

स एव अधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एव इदं सर्वं इति। अथ अतः अहङ्कार-आदेश एव। अहं एव अधस्तात् अहं उपरिष्टात् अहं पश्चात् अहं पुरस्तात् अहं दक्षिणतः अहं उत्तरतः अहं एव इदं सर्वं इति ॥ १ ॥

अथ अतः आत्मादेश एव। आत्मा एव अधस्तात् आत्मा उपरिष्टात्, आत्मा पश्चात् आत्मा पुरस्ताद्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मा उत्तरतः, आत्मा एव इदं सर्वम् इति। स वा एष एवं पश्यन् एवं मन्वानः एवं विजानन्, आत्मरतिः, आत्मक्रीड़ः, आत्ममिथुनः, आत्मानन्दः, स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति अथ ये अन्यथा अतः विदुः अन्यराजानः ते क्षय्य-लोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेषु अकामचारो भवति''॥ —छान्दोग्य उपनिषत् ७।२५।१-८

सनत्कुमार जी कहते हैं कि भूमा अपना स्वयं आधार है।

वही नीचे है, वही ऊपर, वही पीछे, वही आगे, वही दाएँ, वही बाएँ, वही सब कुछ। अब यदि इस भूमा को 'मैं' कहकर पुकारो तो ऐसा कहेंगे कि मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर, मैं ही पीछे, मैं ही आगे, मैं ही दाएँ, मैं ही बाएँ, मैं ही सब कुछ हूँ॥ १ ॥

और यदि इसको 'आत्मा' शब्द कहकर पुकारें तो कहेंगे कि आत्मा ही नीचे है आत्मा ही ऊपर, आत्मा ही पीछे है आत्मा ही आगे, आत्मा ही दाएँ आत्मा ही बाएँ, आत्मा ही सब कुछ है। जो इस प्रकार देखता, इस प्रकार मानता, इस प्रकार जानता है वह अपने में ही रत रहता है, अपने में ही खेलता है, अपने ही साथ आप रहता है, अपने ही में आनन्द लेता है। वही स्वराट् है, अर्थात् असली स्वराज्य उसी का है। सब लोकों में उसकी कामना पूरी होती है, अर्थात् उसको कहीं दुःख नहीं, परन्तु जो लोग इसके विपरीत भावना रखते हैं वे दूसरों के गुलाम हैं। उनका किया-कराया नाश को प्राप्त होता है। उनकी कामनाएँ कहीं पूरी नहीं होतीं, अर्थात् उनको कहीं सुख प्राप्त नहीं होता''॥ २ ॥

यहाँ 'भूमा', 'अहङ्कार' और 'आत्मा' शब्दों से यही एक तात्पर्य है कि प्राकृतिक जगत् को अपने कार्य का ध्येय बनाना 'अल्पता' है और 'आत्मा' को धेय बनाना 'भूमापन' है।

इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का मैत्रेयी को जो नीचे लिखा उपदेश है वह विचारणीय है—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियोभवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे

पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति॥ न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति। आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति। न वा अरे ब्राह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति आत्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो, मैत्रेयि, आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्॥

—बृहदारण्यक उपनिषत् ४।५।६

हे मैत्रेयि! पति के लिए पति प्यारा नहीं होता, आत्मा के लिए पति प्यारा होता है।

स्त्री के लिए स्त्री प्यारी नहीं होती, आत्मा के लिए स्त्री प्यारी होती है।

पुत्रों के लिए पुत्र प्यारे नहीं होते, आत्मा के लिए पुत्र प्यारे होते हैं।

धन के लिए धन प्यारा नहीं होता, आत्मा के लिए धन प्यारा

होता है।

पशुओं के लिए पशु प्यारे नहीं होते, आत्मा के लिए पशु प्यारे होते है।

ब्रह्मत्व के लिए ब्रह्मत्व प्यारा नहीं होता, आत्मा के लिए ब्रह्मत्व प्यारा होता है।

क्षत्रियत्व के लिए क्षत्रियत्व प्यारा नहीं होता, आत्मा के लिए क्षत्रियत्व प्यारा होता है।

लोकों के लिए लोक प्यारे नहीं होते, आत्मा के लिए लोक प्यारे होते हैं।

देवों के लिए देव प्यारे नहीं होते, आत्मा के लिए देव प्यारे होते हैं।

वेदों के लिए वेद प्यारे नहीं होते, आत्मा के लिए वेद प्यारे होते हैं।

भूतों के लिए भूत प्यारे नहीं होते, आत्मा के लिए भूत प्यारे होते हैं।

सब के लिए सब प्यारा नहीं होता, आत्मा के लिए सब प्यारा होता है।

इसलिए हे मैत्रेयि! आत्मा को ही देखना, सुनना, सोचना और जानना चाहिए। एक आत्मा के ही देखने, सुनने, सोचने और जानने से सब कुछ समझ में आ जाता है।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य जीवन के जितने विभाग हैं चाहे गृहस्थ हो चाहे ब्रह्मचर्य, चाहे कर्मकाण्ड हो चाहे उपासना या ज्ञानकाण्ड, चाहे कृषि हो चाहे व्यापार। सब कुछ का ध्येय आत्म-उन्नति है। यदि आत्मा को समझ लिया तो सब कुछ

समझ में आ जाता है। हमारे समस्त शारीरिक वा मानसिक व्यापार भी एक आत्मोन्नति के लिए हैं। हम विवाह भी आत्मोन्नति के लिए करते हैं, सन्तानोत्पत्ति भी आत्मोन्नति के लिए करते हैं और परिवार का पालन भी आत्मोन्नति के लिए करते हैं और अन्त में संन्यास भी इसलिए ग्रहण करते हैं।

[२८]

ईश्वर प्राप्ति के साधन-आहार शुद्धि और एषणाएँ

सनत्कुमार नारद को इसी सम्बन्ध में आगे उपदेश देते हैं—

तस्य ह वा एतस्य एवं पश्यत एवं मन्वानस्यए वं विजानतः आत्मतः प्राण, आत्मतः आशा, आत्मतः स्मर, आत्मतः आकाशः, आत्मतः तेजः, आत्मतः आपः, आत्मतः आविर्भाव-तिरोभावौ, आत्मतः अन्नं, आत्मतः बलं, आत्मतः विज्ञानं, आत्मतः ध्यानं, आत्मतः चित्तम्, आत्मतः सङ्कल्पः, आत्मतः मनः, आत्मतः वाग्, आत्मतः नाम, आत्मतः मन्त्राः, आत्मतः कर्माणि, आत्मतः इदं सर्वं इति॥ १ ॥

तद्वेषः श्लोकः—

न पश्यी मृत्युं पश्यति न रोगं न उत दुःखतां। सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वं आप्नोति सर्वशः॥ इति।

स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा भवति सप्तधा नवधा च एव पुनः च एकादश स्मृतः शतं च दश च एकश्च सहस्त्राणि च विंशतिः॥ आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः, सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। तस्मै मृदित-कषायाय। तमस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः तं स्कन्द

इति आचक्षते तं स्कन्द इति आचक्षते॥ २॥

—छान्दोग्य उपनिषत् ७।२६।१-२

जो इस प्रकार देखता है, इस प्रकार बिचारता है, इस प्रकार जानता है उसकी आत्म-उन्नति होने से उसको प्राण, आशा, स्मरण, आकाश, तेज, जल, ऊपरी और भीतरी शक्तियाँ अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, इच्छाशक्ति, सङ्कल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र, कर्म सब ही प्राप्त हो जाते हैं।

श्लोक में कहा है कि ऐसी दृष्टि रखने वाले को मौत, रोग या दुःख नहीं होता। वह तो सब कुछ देखता और सब कुछ प्राप्त करता है। यह आत्मा का ही प्रभाव है कि वह अनेक रूपों में आविर्भूत होता है। एक, तीन, पाँच, नौ, ग्यारह, सहस्रों और बीसियों, अर्थात् आत्मा जब अपने व्यापार को प्रदर्शित करता है तो वह अनेक रूपों में प्रकट होता है। संसार के वैभव एक आत्मा के ही प्रकाश हैं।

अब एक मुख्य बात बताते हैं। मनुष्यों को परम पद की प्राप्ति के लिए कहाँ से आरम्भ करना चाहिए? क्या कारण है कि इतने उपदेशों के होते हुए भी मनुष्यों का आत्म-उन्नति की ओर ध्यान नहीं जांता और जिनका जाता भी है वह अपने मार्ग में सफल नहीं होते। इसका एक मूल मन्त्र बताते हैं। शरीर की सबसे पहली आवश्यकता 'आहार' अर्थात् भोजन है। जैसा भोजन मिलेगा वैसा ही शरीर बनेगा, वैसा ही अन्तःकरण बनेगा, वैसी ही बुद्धि होगी। यदि भोजन शुद्ध है तो बुद्धि शुद्ध होती है। बुद्धि शुद्ध होने से शङ्का रूपी गाँठें खुल जाती हैं। सत्य पर विश्वास और श्रद्धा होने लगती है और मोक्ष हो जाता है।

आहार शुद्धि में कई बातें शामिल हैं। मांस, मद्य तथा नशीली चीज़ों के खाने से तमोगुण बढ़ता है और विचार भी मलीन होते हैं। मन भी अशान्त रहता है। अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग लग जाते हैं। भोजन के सम्बन्ध में एक बात और है। जो जीविका छल-कपट से कमाई जाती है वह भी शुद्ध आहार नहीं है और उसके खाने वाले का अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता, अतः पहली बात जो मनुष्य को करनी चाहिए आहार-शुद्धि है। न केवल उत्तम वस्तु खाओ, किन्तु धर्मपूर्वक उपार्जित की हुई खाओ। जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो। जब अन्तःकरण शुद्ध होगा तो भगवत् कथा के कहने, सुनने और उसके अनुकूल आचरण करने में भी मन लगेगा। चालाक मनुष्य जो धर्म पर नहीं चलता और जिसका मन विषयों में लगा रहता है अपने अन्तःकरण को बिगाड़ लेता है। ऐसे आदमी को भगवत् कथा में कोई आनन्द नहीं आता। परमपद की प्राप्ति एक ऊँचे पर्वत की उच्च शिखर पर चढ़ना है। जो शनैः-शनैः सदाचरण करने से ही हो सकता है।

इसी विषय में आगे याज्ञवल्क्य का अच्छा उपदेश है—

अत हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ "याज्ञवल्क्य" इति ह उवाच, "यद् एव साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व" इति। "एष त आत्मा सर्वान्तरः"। "कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो?" "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युं अत्येति एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्चलोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। या हि एव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या

वित्तैषणा असा लोकैषणा। उभे हि एते एषणे एव भवतः। तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य अथ मुनिः अमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याद् येन स्यात् तेन ईदृश एवातोऽन्यदार्त''। ततो ह कहोलः कौषीतकेय्र उपरराम॥

—बृहदारण्यक उपनिषत्, अध्याय ३, ब्राह्मण ५

अब कौषीतकेय कहोल ने पूछा, ''याज्ञवल्क्य! यह जो आत्मा हम सबके भीतर है उसे प्रत्यक्ष रूप से समझाइए।''

याज्ञवल्क्य ने कहा, ''बस, इतना ही उत्तर है कि वह हम सबका आत्मा है।'' कहोल बोले, ''भला, वह आत्मा ही क्या?''

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, ''यह वह आत्मा है जिसे भूख-प्यास नहीं लगती, शोक-मोह नहीं सताता। बुढ़ापा और मृत्यु उसके पास नहीं आते। जब लोग उस आत्मा का अनुभव कर पाते हैं तो पुत्र की इच्छा, धन की इच्छा और यश की इच्छाओं को त्याग कर परमपद का अनुभव करने लगते हैं। जैसी पुत्र एषणा वैसी धन की एषणा, जैसी धन की एषणा वैसी यश की एषणा।''

जब तक मनुष्य संसार के निचले भाग में काम करता है उसे यह तीन एषणाएँ रहती हैं। वह इन्हीं के द्वारा काम करता है। यदि पुत्र-एषणा न हो तो कौन गृहस्थाश्रम करे? यदि वित्त एषणा न हो तो कौन परिश्रम करके धन कमावे? संसार का सब काम ही बन्द हो जाए। यदि यश की एषणा न हो तो लोक-लज्जावश जो पाप से बचे रहते हैं न बच सकें, परन्तु यह तो

से ही होती है, अतः निष्ठा को समझना चाहिए।''

नारद ने कहा, ''महाराज, मैं निष्ठा को समझना चाहता हूँ। कृपा करके समझाइए।''

''यदा वै करोति अथ निस्तिष्ठति न अकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वा एव निस्तिष्ठति। कृतिः तु एव विजिज्ञासितव्या'' इति।

''कृतिं भगवो विजिज्ञासे'' इति॥ २१॥

''जब मनुष्य करता है तभी निष्ठा भी होती है। विना किये निष्ठा नहीं होती, इसलिए कृति को ही समझना चाहिए।''

नारद बोले, ''महाराज! मैं कृति को ही समझना चाहता हूँ।''

''यदा वै सुखं लभते अथ करोति न असुखं लब्ध्वा करोति। सुखं एव लब्ध्वा करोति। सुखं तु एव विजिज्ञासितव्यम्'' इति॥

''सुखं भगवो विजिज्ञासे'' इति॥ २२॥

—छान्दोग्य ७।१७-२२

इस प्रकार सत्य का आचरण करने के लिए जानना, मनन करना, श्रद्धा करना, निष्ठा करना, कर्म करना और सुख के तत्त्व को समझना आवश्यक है। यही नारद के लिए सनत्कुमार का उपदेश है। असली सुख क्या है। यह एक टेढ़ा प्रश्न है। बच्चा खिलौने को देखकर रोता है। जब खिलौना मिल जाता है तो वह समझता है कि मैं सुखी हो गया। बच्चे के लिए वही सुख है, परन्तु थोड़ी-सी देर खेलने के पश्चात् ही उसका जी उकता जाता है और वह खिलौने को फेंककर फिर रोने लगता है। अब उस खिलौने में सुख नहीं मिलता। वस्तुतः खिलौने में सुख तलाश करना बालक का बालकपन था। खिलौने में असली

सुख न था। इसी प्रकार संसार के अन्य पदार्थों का हाल है। धन में सभी लोग सुख समझते हैं, परन्तु सहस्त्रों मनुष्य हैं जिनके दु:खों का एकमात्र कारण उनका धन है। धन ही के कारण लोग उनसे डाह करते हैं, धन ही के कारण उनकी जान जाती रहती है। धन ही के कारण विषय भोग में फँसकर वह अनेक शारीरिक और मानसिक घटनाओं को सहते हैं, इसलिए धन में आन्तरिक सुख नहीं। इसी प्रकार सन्तान आदि में भी सुख नहीं। तो प्रश्न होता है कि सुख है क्या? इसका उत्तर सनत्कुमार आगे देते हैं।

[२६]

भूमा

''यो वै भूमा तत् सुखं न अल्पे सुखं अस्ति। भूमा एव सुखं। भूमा तु एव विजिज्ञासितव्य'' इति।

भूमानं भगवो विजिज्ञासे'' इति॥ —छान्दोग्य उप० ७।२३

सनत्कुमार ने कहा—''जो भूमा है वही सुख है। अल्प में सुख नहीं है। भूमा ही सुख है, भूमा को ही समझना चाहिए।''

नारद ने उत्तर दिया, ''महाराज! मैं इसी को समझना चाहता हूँ''।

''यत्र न अन्यत् पश्यति न अन्यत् शृणोति न अन्यत् विजानाति स भूमा। अथ यत्र अन्यत् पश्यति अन्यत् शृणोति अन्यद् विजानाति तद् अल्पं। यो वै भूमा तद् अमृतं अथ यद् अल्पं तत् मर्त्यं।''

''स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः?'' इति।

''स्वे महिम्न यदि वा न महिम्न इति। गो अश्वं इह महिमा

बाल्यावस्था की बात हुई। जब तक आत्मा परिपक्व नहीं हुआ बालक को पाठशाला भेजते हैं तो बताशे का लालच देते हैं, परन्तु जब विद्या की चाट पड़ जाती है तो बालक स्वयं पढ़ता है। कालेज के विद्यार्थी को बताशे की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार साधारण स्थिति में जब तक बालकपन रहता है यह एषणाएँ उन्नति का हेतु होती हैं। यदि कालेज का विद्यार्थी भी बताशे के लालच से कालेज जाए तो उसको लोग मूर्ख ही कहेंगे, क्योंकि उस अवस्था में बताशे का लालच उन्नति के बजाए अवनति करेगा। इसी प्रकार उच्च कक्षा में पहुँचकर आत्म-पथ का पथिक इन एषणाओं से बाधा अनुभव करता है। इसलिए संन्यासी के लिए उपदेश है कि पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा को त्याग दे। जिसने यह एषणाएँ त्यागी नहीं उसको संन्यासी नहीं होना चाहिए। इससे पाखण्ड का प्रचार होता है और धूर्त्त लोग मूर्खों को ठगते हैं। इससे दोनों की क्षति होती है।

लोभी गुरु लालची चेला दोनों खेलें दाव।
भवसागर में डूबते बैठ पत्थर की नाव॥

नये प्रकाशन

दीप्ति : *स्वामी विद्यानंद सरस्वती ।* अनेक विषय हैं जिन पर आर्यसमाज में विभिन्न स्तरों पर समय-समय पर विचार होता आया है, परन्तु वे आज तक विवादास्पद बने हुए हैं । लेखक ने उन्हें गम्भीरतापूर्वक विचार कर निर्णय के तट पर पहुंचाने का प्रयास किया है। **मूल्य** ८०-०० रु०

वैदिक ज्ञानधारा : *प्रा० राजेन्द्र जिज्ञासु ।* आर्यसमाज के कई दिवंगत महात्माओं, हुतात्माओं, विचारकों, नेताओं व उपदेशकों के महत्त्वपूर्ण लेखों, भाषणों, शास्त्रार्थों व प्रवचनों का संकलन । **मूल्य :** ८०-००

बिखरे मोती : *डॉ० भवानीलाल भारतीय ।* आर्य महापुरुषों के रोचक, शिक्षाप्रद संस्मरणों, शास्त्रार्थों की नोक-झोंक, आर्यों के आदर्श चरित्र को प्रख्यापित करने वाले जीवन प्रसंगों, साहित्यकारों की हास्यपूर्ण उक्तियों तथा उपदेशकों की हाजिर जवाबी को एक साथ प्रस्तुत किया गया है । **मूल्य :** ४०-०० रु०

आर्य सूक्ति-सुधा : *प्रा० राजेन्द्र जिज्ञासु ।* महर्षि दयानन्द जी महाराज से लेकर शस्त्रार्थ महारथी श्री पं० शान्तिप्रकाश जी व श्रद्धेय पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक तक अधिक से अधिक शीर्षस्थ वैदिक विद्वानों की सूक्तियों का संग्रह, समुद्र मन्थन जैसा प्रयास है । **मूल्य** १२-००

सत्यार्थप्रकाश : (आधुनिक हिन्दी रूपान्तर) *स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती ।* आज तक जितने भी संस्करण छपे हैं, उन सभी से सुन्दर अनेक टिप्पणियों से विभूषित, कठिन शब्दों के अर्थ से युक्त । अपने स्वाध्याय के लिए अपने मित्रों-संबंधियों को भेंट देने के लिए उपयोगी संस्करण । **मूल्य** १२५-०० रु०

योग-शिक्षा : (चार भागों में) : *डॉ० देवव्रत आचार्य ।* योग का अभ्यास प्रत्येक बालक व बालिका को अनिवार्य रूप से करना चाहिए । यह पुस्तकें कक्षा सप्तम से दशम तक के छात्र-छात्राओं की शारीरिक अवस्था और मानसिक परिस्थिति के अनुसार उन्हें योग-शिक्षा का मार्गदर्शन करेगीं । विद्यार्थियों के लिए दिनचर्या, स्वस्थवृत्त, प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार-साधना, आसन क्रिया एवं स्वाध्याय का समन्वित पाठ्यक्रम बनाया है । जिसमें उनका स्वास्थ्य समुन्नत, मन एकान्त, बुद्धि कुशाग्र और मानवीय गुणों का उद्भव होगा । **मूल्य** प्रथम भाग १२-०० रु०
अन्य तीन भाग प्रत्येक १०-०० रु०

New Publication

ON THE VEDAS

(A clue to the understanding of the VEDAS)

By

Swami Vidyanand Saraswati

The VEDAS are the bed-rock on which the editice of Aryan culture and civilisation has been raised, whatever is in the VEDAS is supreme and final authority in all matters.

The book is inteded to enable the general reader to have an idea of the VEDAS without going through the veluminous work, published on the subject. Price : Rs. 35.00

Other works of the same author under publication are :

ARYAVRAT (The original habitat of Aryans) :—Today the greatest hurdle in the way of unity and integrity of India is the wrong notion that the Aryans from some foreign land invaded this country. In order to understand, to recapture and live upto the best in our culture it is necessary to discover the Aryan discipline, character and outlook and to corest the secrets of VEDAS.

DAYANAND (Architect of modern India) :—Dayananda was a visionary, who looked far ahead of his times and visualised a society based on moral values, social justice and equality of opportunity all that in a spiritual background and Indian enviornment. The present treatise is an elaboration of these focal points.

Vijaykumar Govindram Hasanand

4408, NAI SARAK, DELHI-110006 (India)

Phone ; 2914945